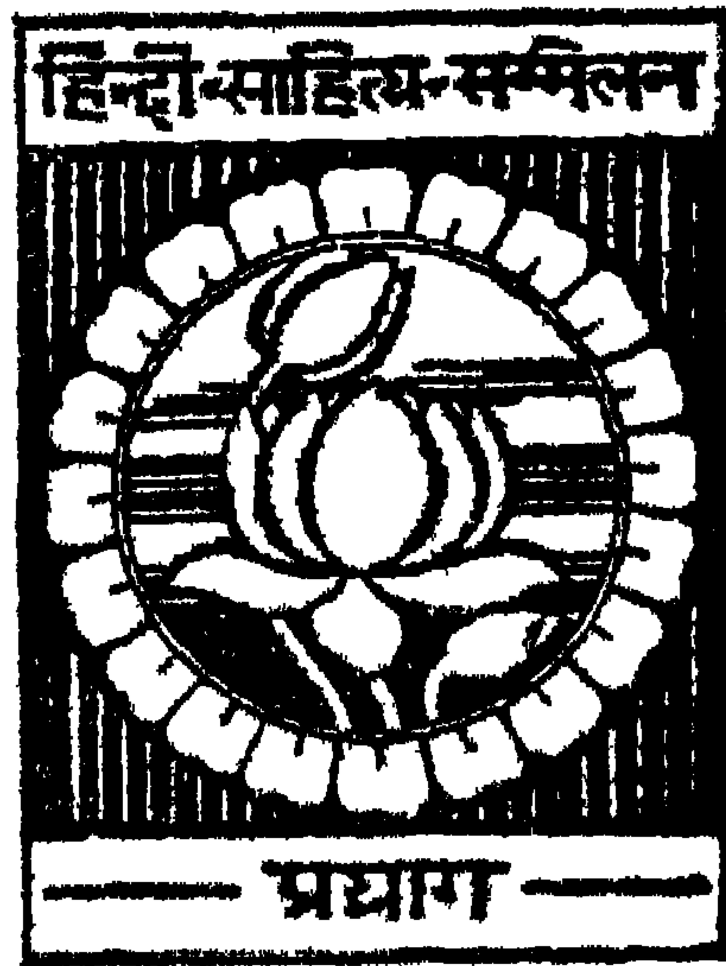
सुलभ साहित्य माला

कौटल्य की शासनपद्धति

भगवानदास केला



हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

द्वितीय बार] संवत् २००३ वि० [मूल्य २)

प्रकाशकीय



स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा-नरेश महाराज सयाजीराव गायकवाड़ महोदय ने बम्बई के सम्मेलन में स्वयं उपस्थित होकर जो पाँच सहस्र रुपये की सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी, उसी सहायता से सम्मेलन इस "सुलभ-साहित्य-माला" के प्रकाशन का कार्य कर रहा है। इस "माला" में जिन सुन्दर और मनोरम ग्रन्थ-पुष्पों का ग्रन्थन किया जा रहा है, उनकी सुरभि से समस्त हिन्दी-संसार सुवासित हो रहा है। इस "माला" के द्वारा हिन्दी-साहित्य की जो श्रीवृद्धि हो रही है, उसका मुख्य श्रेय स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा-नरेश महोदय को है। उनका यह हिन्दी-प्रेम भारत के अन्य हिन्दी प्रेमी श्रीमानों के लिये अनुकरणीय है।

निवेदक

साहित्य मंत्री

हिन्दी साहित्य सम्मेलन,

प्रयाग।

निवेदन

कई राष्ट्र इस बात का बड़ा अभिमान किया करते हैं कि हमने बड़े-बड़े साम्राज्यों का निर्माण किया है। परन्तु स्मरण रहे कि वह महान तेजस्वी और परम् त्यागी आचार्य कौटल्य भारत-वासी ही था, जिसने अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व संसार में उस समय का सम्भवतः सब से बड़ा, साम्राज्य स्थापित करने में विलक्षण सहायता दी थी, जबकि कितने ही देशों के निवासी राज्य सम्बन्धी स्थूल ज्ञान से भी वंचित थे। कौटलीय अर्थशास्त्र ने पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में भारतीय सभ्यता और संस्कृति को, विशेषतया यहाँ के अर्थ-नीति और शासनपद्धति सम्बन्धी ज्ञान को, उच्च स्थान देने के लिये बाध्य किया है।

परन्तु कौटल्य के ग्रन्थ में समाज शास्त्र के विविध अंगों से सम्बन्धित अनेक विषयों के रहस्यपूर्ण विचारों का समावेश है। इस ग्रन्थ के दो हिन्दी अनुवाद हो चुके हैं, तथापि ग्रन्थ इतना जटिल और गूढ़ है कि साधारण पाठक उससे बहुत कम लाभ उठा सकते हैं। आवश्यकता है कि जिन विषयों की उसमें चर्चा है, उनमें से प्रत्येक की आवश्यक बातों का पृथक् पृथक् संग्रह करके उनपर क्रमबद्ध विचार और व्याख्या हो। हम एक अन्य पुस्तक में आचार्य के आर्थिक विचारों पर प्रकाश डाल चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक में हमने कौटल्य के शासनपद्धति सम्बन्धी विचार देने का प्रयत्न किया है। कौटलीय अर्थशास्त्र के अन्य विषयों में हमारी न गति है और न विशेष रुचि ही। उन्हें हमने अन्य विद्वानों के लिये छोड़ दिया है।

इस पुस्तक के कुछ भागों पर हमें बुलन्दशहर निवासी अपने मित्र श्री जगन्नलाल जी गुप्त से विचार-विनिमय की सहायता मिली है। कौटल्य सम्बन्धी अंगरेजी साहित्य को हमें अधिकतर मथुरा के श्री० सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार की कृपा से अवलोकन करने

की सुविधा हुई है। इन दो सज्जनों के अतिरिक्त हम विशेषतया श्री० उदयवीर जी शास्त्री के भी बहुत कृतज्ञ हैं, जिनका किया हुआ अर्थशास्त्र का हिन्दी अनुवाद हमारी इस रचना का एक मुख्य आधार है। कौटलीय अर्थशास्त्र के कई स्थल विवादग्रस्त हैं। सम्भवतः उसके प्रकाशन में कुछ भूल भी हैं। विद्वानों के अध्ययन और अनुसंधान से जब इस ग्रन्थ के पाठ-भेदों का निश्चय हो जायगा तो स्वभावतः इस विषय पर और अधिक प्रकाश डाला जा सकेगा।

इस पुस्तक में भारतवर्ष के प्राचीन राजतंत्र का विवेचन है, और राजतंत्र का आजकल प्रायः विरोध ही हो रहा है। कुछ लोगों का तो विचार है कि संसार से इसका लोप हो जाय। इसमें सन्देह नहीं कि यदि इसके दोष दूर न किये गये तो इसका भविष्य अन्धकारमय है। इस लिए यह बहुत आवश्यक है कि इसमें यथेष्ट सुधार किया जाय। राजतंत्र को ऐसा वैध स्वरूप दिया जाय कि इसमें निरंकुशता स्वेच्छाचारिता और प्रजापीडन न रहे; यह लोकहितैषी और जनसेवी हो जाय। आचार्य कौटल्य ने यही प्रयोग किया था और हमें गर्व है कि उसका प्रयोग अधिकांश में सफल हुआ। उसके ग्रन्थ के आधार पर लिखी हुई, यह पुस्तक विशेषतया हमारे देशी राज्यों के उत्थान में सहायक हो, देशी नरेश तथा उनकी प्रजा इससे समुचित लाभ उठावे, यह हमारी हार्दिक इच्छा है। आशा है विविध शिक्षा प्रेमी संस्थाएँ और सज्जन इस कृति का यथेष्ट स्वागत करेंगे और इसके प्रचार में सहायक होंगे।

भगवानदास केला

आवश्यक सूचना

(१) हमने इस पुस्तक का नाम 'कौटल्य की शासनपद्धति' रखा है, और इसमें जहाँ-तहाँ 'कौटल्य' शब्द, का ही प्रयोग किया है। यद्यपि व्यवहार में 'कौटल्य' अधिक प्रचलित है, वास्तव में 'कौटल्य' अधिक शुद्ध है, जैसा कि हमने कौटल्य के आर्थिक विचार' पुस्तक की प्रस्तावना में बतलाया है।

(२) इस पुस्तक में साधारणतया 'आचार्य' से अभिप्राय 'आचार्य कौटल्य' का, और 'अर्थशास्त्र' से अभिप्राय 'कौटलीय अर्थशास्त्र' का है।

(३) इस पुस्तक में 'अर्थशास्त्र' का हवाला देते हुए जहाँ अंकों का प्रयोग हुआ है, वहाँ पहला अंक अधिकरण का सूचक है; दूसरा, अध्याय का; और तीसरा, सूत्र का। उदाहरणार्थ 'कौ० अ० १।१५।६४' का आशय है, कौटलीय अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के पन्द्रहवें अध्याय का चौसठवाँ सूत्र।

सहायक पुस्तकें

—(:o:)—

कौटलीय अर्थशास्त्र हिन्दी	अनुवादक उदयवीर शास्त्री
,, ,,	,, प्राणनाथ विद्यालंकार
,, ,, अंगरेजी	अनुवादक शाम शास्त्री
मेगस्थनीज का भारतवर्षीयवर्णन	अनु० रामचन्द्र शुक्ल
महाभारत मीमांसा	अनु० माधवराव सप्रे
मौर्य साम्राज्य का इतिहास	सत्यकेतु विद्यालंकार
Hindu Polity	के० पी० जायसवाल एम० ए०
Kautilya	ए० सी० बन्धोपाध्याय
Political Institutions and Theories	बी० के० सरकार
Hindu Political Thought	ए० के० सेन
Hindu Political Theory	यू० घोशाल एम० ए०
Public Administration in India	पी० बेनर्जी ए० ए०
Aspects of Hindu Polity	एन० एन० ला एम० ए०
Indo Aryan Polity	पी० वसु एम० ए०
Corporate Life in Ancient India	आर० सी० मजुमदार ए०ए०
Local Government in Ancient India	आर० मुकर्जी, एम० ए०

विषय-सूची

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

क्या प्राचीन भारतवासी केवल आध्यात्मिक चिन्तन में लगे रहते थे?—बहुत से पाश्चात्य तथा कुछ भारतीय विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में भारतवासी अधिकतर धार्मिक या आध्यात्मिक विषयों में लगे रहते थे। उन्हें पारलौकिक विषयों से छुटकारा ही नहीं मिलता था। अतः उन्होंने अर्थशास्त्र और राजनीति जैसे सामाजिक और इहलौकिक विषयों का चिन्तन या मनन नहीं किया, और यहाँ प्राचीन काल में इन विद्याओं का कुछ विकास नहीं हो पाया।

यह कथन असत्य तथा अज्ञानमूलक है। प्राचीन काल में भारतवासी आध्यात्मिक विषयों की ओर प्रवृत्त होते हुए भी सांसारिक या व्यावहारिक बातों की उपेक्षा नहीं करते थे। यदि ऐसा होता तो वे जीवन के विविध क्षेत्रों में इतनी उन्नति कैसे कर पाते; वाणिज्य, व्यवसाय, व्यापार, उद्योग-धन्धे, शिल्प, निर्माण, कला-कौशल, राजनीति, समाजनीति, शासननीति, आदि में ऐसी प्रगति क्यों कर सकते! प्राचीन भारतीयों की इस चतुर्दिक उन्नति के अनेक प्रमाण हैं, परन्तु भिन्न दृष्टि-कोण रखने वाले उन्हें विश्वसनीय नहीं समझते। इसका मुख्य कारण यह है कि उनकी दृष्टि अब से दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व तक ही पहुँचती है। इतिहास के उस अतीत युग की वे कल्पना नहीं कर सकते, जब पाश्चात्य देशवासी प्रायः अन्धकारमय जंगली जीवन बिता रहे थे, पाश्चात्य सभ्यता का कहीं आभास तक न था और भारतीय सभ्यता अपनी पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी। उनका मत है कि जो यूनान और मिश्र योरप

को सभ्यता सिखाने वाले हैं, वे ही इस विषय में भारतवर्ष के भी गुरू और आचार्य समझे जाने चाहिएँ।

कौटल्य का ग्रन्थ—पुरातत्व या प्राचीन इतिहास सम्बन्धी खोज, इन विपक्षियों को इस बात पर बाध्य कर रही है कि वे अपनी भ्रान्तियों को दूर करें, और अपने निर्णयों पर पुनः विचार करें। अन्यान्य बातों में कौटल्य का अर्थशास्त्र इस विषय में बहुत सहायक है। यह एक ही ग्रन्थ इस बात का साक्षी है कि ईसा मसीह से तीन सौ वर्ष पूर्व भारतवर्ष नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करता था और भाँति-भाँति का तैयार माल विक्रयार्थ प्रस्तुत करता था। इसने खणिज विद्या, शासन-प्रबन्ध, सैन्य-संचालन, नगर-निर्माण, भूगर्भ विद्या, अन्तरिक्ष विद्या और रसायन शास्त्र आदि अनेक विषयों में ऐसी उन्नति करली थी, जैसी कुछ देशों ने आधुनिक काल में की है, और कितनों ही ने तो अब तक भी नहीं कर पायी। भारतवर्ष की प्राचीन उन्नति सम्बन्धी बातों को निराधार, कपोल-कल्पित या दंतकथा कहने की प्रवृत्ति अब भी बहुत से आदमियों में पायी जाती है। तथापि कौटल्य की साक्षी की सहज ही उपेक्षा नहीं की जा सकती।

कौटलीय अर्थशास्त्र की रचना आदि के सम्बन्ध में हम आवश्यक बातें अपनी 'कौटल्य के आर्थिक विचार' पुस्तक में बता चुके हैं, जिसमें इस बात का विवेचन किया गया है कि आधुनिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में, आचार्य कौटल्य ने विविध विषयों का कैसा सुन्दर और युक्तियुक्त प्रतिपादन किया है। इस पुस्तक में हमारा विषय राजनीति सम्बन्धी होने से हमें उसी के विषय में यहाँ विचार करना है।

हमारे प्राचीन साहित्य में राजनीति—कुछ लोगों का मत है कि यहाँ राजनैतिक विषयों का जो थोड़ा-बहुत विचार हुआ भी है, वह धर्म के अंगभूत होकर ही हुआ, स्वतंत्र रूप से नहीं, इस लिए यहाँ इन विद्याओं का कुछ विकास नहीं हो सका, और यहाँ की

शासनपद्धति भी अधिकतर धर्ममूलक ही रही; वह विशुद्ध नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार विकसित न हुई। इस सम्बन्ध में पहले तो यही स्मरण रखने की बात है कि भारतवर्ष में 'धर्म' का क्षेत्र वैसा संकुचित नहीं रहा, जैसा पाश्चात्य देशों में माना जाता रहा है, और आज कल साधारणतया माना जाता है। यहाँ इसका अर्थ मत, सम्प्रदाय, या परम्परागत विश्वास आदि न होकर इसके अन्तर्गत समाज को धारण करने वाले नियम, और उसके विविध अंगों के भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यादि रहे हैं। इसके अतिरिक्त, भारतवासियों पर जो केवल धार्मिक जीवन व्यतीत करने का आक्षेप है, उसके खंडन में अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। परन्तु विस्तार-भय से हम स्वयं कौटल्य के ग्रन्थ से ही मिलने वाले प्रमाणों का उल्लेख करते हैं; उनसे मालूम होगा कि यहाँ धर्म ही एकमात्र विचारणीय विषय न था; विविध आचार्यों ने उसके अतिरिक्त, सामाजिक विद्याओं का भी यथेष्ट महत्व माना है।

अपने अर्थशास्त्र के दूसरे अध्याय के पहले प्रकरण में ही कौटल्य लिखता है—"विद्या चार हैं—आन्वीक्षकी (दर्शन और तर्क), त्रयी (धर्माधर्म का विषय अथवा वेदों का ज्ञान), वार्ता (कृषि, व्यापार आदि अर्थशास्त्र का विषय) और दंडनीति (राजशास्त्र)। मानव सम्प्रदाय का मत है कि विद्या तीन हैं:—त्रयी, वार्ता, और दंडनीति। आन्वीक्षकी विद्या त्रयी के ही अन्तर्गत है। बार्हस्पत्य सम्प्रदाय का मत है कि विद्या दो ही हैं—वार्ता और दंडनीति; त्रयी तो संसारिक मनुष्यों के लिए 'संवरण' अर्थात् नास्तिकता के दोष से बचने का आवरण मात्र है। औशनस अर्थात् शुक्राचार्य के सम्प्रदाय का मत है कि केवल दंडनीति ही एक विद्या है, अन्य सब विद्याओं का आरम्भ इसी पर निर्भर है। परन्तु कौटल्य का मत यह है कि चारों हीं विद्याएँ हैं, क्योंकि विद्या की वास्तविकता यही है कि उससे धर्म और अर्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो।"

इससे स्पष्ट है कि दंडनीति अर्थात् राजशास्त्र को प्रत्येक सम्प्रदाय एक स्वतन्त्र विद्या मानता है। यहाँ तक कि औशनस सम्प्रदाय तो उसे ही एकमात्र विद्या स्वीकार करता है। इसके विपरीत, आन्वीक्षकी को तीन और त्रयी को दो सम्प्रदाय स्वतंत्र विद्याएँ नहीं मानते। यद्यपि आचार्य कौटल्य ने विद्याएँ चार मानी हैं, तथापि वह दंडनीति को विशेष महत्व देता है। दूसरे प्रकरण में वह लिखता है कि अन्य तीन विद्याओं का मूल दंडनीति ही है, शास्त्र-ज्ञानपूर्वक प्रयुक्त की हुई दंडनीति जीवधारियों के योग और क्षेम का कारण होती है।

पूर्वोक्त उद्धरण में तीन राजनैतिक सम्प्रदायों के नाम आये हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य ने अर्थशास्त्र में थान-स्थान पर अन्य पूर्ववर्ती राजनीतिज्ञों के मत का उल्लेख किया है तथा दूसरे अधिकरण के दसवें अध्याय के अंन्त में लिखा है कि उसने सब शास्त्रों को अच्छी तरह जानकर तथा उनके प्रयोगों को भलीभाँति समझ कर राजा के लिए इस शासन-विधि का उपदेश किया है। इस से स्पष्ट है कि कौटल्य से पहले ऐसे अनेक राजनीति-ग्रन्थ थे, जिन्हें स्वयं कौटल्य ने अध्ययन किया; और सम्भव है कुछ ऐसे भी हों, जो उसके देखने में न आये हों। इस प्रकार हमारे प्राचीन साहित्य में राजनीति का अवश्य ही अच्छा स्थान रहा है।

साम्राज्य-निर्म्माण—हमारे पूर्वज राज़नीति के सिद्धान्तों के विवेचन, अर्थात् इस विषय की साहित्य-रचना से ही संतुष्ट नहीं हो गये थे। उन्होंने प्रतिपादित सिद्धान्तों का सम्यक् व्यवहार भी किया और उसमें विलक्षण सफलता भी प्राप्त करके दिखायी। जो लेखक या वक्ता प्राचीन भारतीयों को असभ्य, असंगठित और स्वराज्य के अयोग्य बतलाते हैं, उनके लिए अर्थशास्त्र का विशेषतया शासनपद्धति सम्बन्धी भाग एक प्रत्यक्ष चुनौती है। वे तनिक निस्पक्षता और गम्भीरता से विचार करें कि यदि भारतवासी

असभ्य, या अर्द्ध-सभ्य रहे होते तो एक विशाल साम्राज्य की स्थापना या निर्माण किस प्रकार कर सकते—ऐसे विशाल साम्राज्य की, जो वर्तमान लाल और पीले भारत से आकार-प्रकार में किसी तरह कम न था, जो आधुनिक ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के योग से भी कुछ अधिक ही था, जिसके विषय में प्रसिद्ध इतिहास-लेखक विन्सेंट ए० स्मिथ ने लिखा है:—"दो हज़ार साल से भी अधिक हुए, भारत के प्रथम सम्राट् ने उस 'वैज्ञानिक सीमा' को प्राप्त किया था, जिसके लिए उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में आहें भरते हैं, और जिसको कि सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों के मुग़ल सम्राटों ने भी कभी पूर्णतया प्राप्त नहीं किया।"

बहुत से पाठक तत्कालीन साम्राज्य-निर्माण के यथेष्ट महत्व की सहज ही कल्पना नहीं कर सकते। इसके लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उस समय रेल, तार, डाक आदि के आधुनिक साधन नहीं थे। साम्राज्य के एक सिरे से दूसरे सिरे पर आवश्यकतानुसार सैनिक सहायता भेजने के लिए कई महीनों के समय की आवश्यकता थी; दूर-दूर के स्थानों की परिस्थिति से समुचित परिचय प्राप्त होते रहना तथा तदनुसार यथेष्ट व्यवस्था करना आजकल की तरह सुगम कार्य न था। ऐसी परिस्थिति में जिन नीतिज्ञों और शासकों ने उपर्युक्त विशाल साम्राज्य का संचालन किया, उन्हें अर्द्ध-सभ्य कहने का मूर्खतापूर्ण दुस्साहस कौन करेगा? देश-काल का ठीक विचार करने पर उनका कौशल आधुनिक काल के सब से अधिक सभ्य और विकसित राष्ट्र के सूत्रधारों से भी अधिक ही रहेगा।

साम्राज्य-विस्तार—कौटल्य के अभीष्ट साम्राज्य की सीमा क्या थी? वह लिखता है कि 'सुशिक्षित राजा सम्पूर्ण प्राणियों के हित में लगा हुआ, तथा प्रजाओं के शिक्षण में तत्पर रहता हुआ निष्कंटक अर्थात् बिना प्रतिद्वन्दी पृथ्वी का चिर काल तक उपभोग

करता है।'[1] 'धर्म, व्यवहार, चरित्र (नियम) तथा न्यायपूर्वक शासन करता हुआ राजा 'चतुरन्त' अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी को जीते।'[2] 'दुष्ट प्रकृति, आत्मसम्पत्ति रहित राजा चतुस्समुद्र-पर्यन्त भूमि का अधिपति होता हुआ भी या तो अमात्य आदि प्रकृतियों द्वारा मारा जाता है, अथवा शत्रु के वश में चला जाता है। परन्तु आत्मसम्पन्न नीतिज्ञ राजा थोड़ी भूमि का मालिक होते हुए भी, प्रकृति-सम्पत्ति से युक्त होकर सम्पूर्ण पृथ्वी को विजय कर लेता है, और कभी क्षीणता को प्राप्त नहीं होता।'[3]

उपर्युक्त उद्धरणों में पृथ्वी से आचार्य का अभिप्राय सम्पूर्ण संसार से नहीं है। वह लिखता है कि काम, क्रोध आदि शत्रु षड्वर्ग को छोड़ कर जितेन्द्रिय जमदग्नि-पुत्र (परशुराम) ने तथा अम्बरीष और नाभाग ने चिरकाल तक इस 'मही' (पृथ्वी) का उपभोग किया।[4] अवश्य ही इन राजाओं का राज्य सम्पूर्ण संसार भर में नहीं था। उनके समय में संसार का कितना भाग ज्ञात था, इसका कोई अकाट्य प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अस्तु, कौटल्य के 'पृथ्वी' शब्द को हमें समस्त संसार का द्योतक न समझकर, इसका परिमित अर्थ ही लेना चाहिए।

अन्यत्र वह स्वयं स्पष्ट करता है कि "पृथ्वी देश का ही नाम है। पृथ्वी पर हिमालय से दक्षिण समुद्र पर्यन्त, अर्थात् उत्तर दक्षिण में हिमालय और समुद्र के बीच का, तथा एक हजार योजन तिरछा अर्थात् पूर्व पश्चिम की ओर एक हजार योजन विस्तार-वाला, पूर्व पश्चिम समुद्र की सीमा से युक्त देश चक्रवर्ती क्षेत्र कहलाता है। अर्थात् इतने प्रदेश पर शासन करने वाला राजा चक्रवर्ती होता है।"[5] कौटल्य के इस उद्धारण में पृथ्वी अर्थात् देश का आशय भारतवर्ष ही है। भारतवर्ष की लम्बाई और

---

[1] कौ अ० १।५ [2] कौ० अ० ३।१ [3] कौ० अ० ६।१
[4] कौ० अ० १।६ [5] कौ० अ० ६।१

चौड़ाई एक-एक हज़ार योजन अर्थात् लगभग चार-चार हजार मील की कल्पना कौटल्य की अपनी नहीं है। प्राचीन साहित्य में यही अंक मिलते हैं। पश्चिम समुद्र पुराणों में मही सागर (भूमध्य सागर) नाम से प्रसिद्ध हैं, और पूर्वी समुद्र से चीन समुद्र या पीत सागर का आशय है। इस प्रकार लघु एशिया से चीन जापान तक की भूमि भारतवर्ष की सीमा मानी जाती थी। इसी प्रकार आचार्य हिमालय से लेकर चार हजार मील दक्षिण तक भारतवर्ष की सीमा मानता है तो इसके अन्दर दक्षिण सागर के बहुत से टापुओं का समावेश समझना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—अगले पृष्ठों में इस बात का विचार किया जायगा कि उस प्रशंसनीय शासनपद्धति का क्या स्वरूप था, जिसके व्यवहार से भारतवासी उस समय इतने सुखी, संतुष्ट और सम्पन्न थे, जिसके फल-स्वरूप यहाँ चहुँओर सुव्यवस्था और शान्ति के साथ-साथ यथेष्ट, और हाँ, अन्य देशों की दृष्टि में ईर्षाजनक समृद्धि थी। हमारा यह आशय नहीं कि दो हज़ार वर्ष पूर्व प्रचलित शासनपद्धति अब इस समय में ज्यों की त्यों काम में लाना उपयोगी होगा—यह तो हो नहीं सकता। तथापि हम उस शासनपद्धति के आचार्य कौटल्य के बहुत से नियमों से इस समय भी लाभ उठा सकते हैं, कुछ बातों को देश के अनुसार संशोधित करके उपयोगी बना सकते हैं। और उस शासनपद्धति के इस मूल उद्देश्य को तो हर समय ही स्मरण रखना हितकर है कि शासन का उद्देश्य जनता की धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी उचित अनुपात में उन्नति करना है, जनता का सुख और संतोष ही राज्य का सब से बड़ा बल है।

दूसरा अध्याय

राज्य और शासनपद्धतियाँ

राज्य की आवश्यकता—आचार्य कौटल्य से बहुत समय पूर्व, भारतवर्ष में राजसत्ता अनिवार्य समझी जाने लगी थी। अवश्य ही यह देश ऐसा भी समय बिता चुका था, जिसमें शासनपद्धति का सर्वथा अभाव था। महाभारत की साक्षी से सिद्ध है कि सतयुग अर्थात् सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में यहाँ बहुत समय तक राजा या राज्य, दंडकर्ता या दंड कुछ भी न था। उस समय जनता की कैसी स्थिति थी तथा राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस विषय में हमारे प्राचीन लेखकों के कई मत हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी राज्य के उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई भिन्न-भिन्न सिद्धांत स्थिर किये हैं। आचार्य लिखता है कि "राजशक्ति अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करानेवाली, प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने वाली, सुरक्षित पदार्थों में वृद्धि करने वाली और वृद्धि को प्राप्त किये हुए पदार्थों को उचित स्थान में लगाने वाली होती है। संसार के निर्वाह के लिए राजशक्ति की आवश्यकता अनिवार्य रूप है। जनता को ठीक-ठीक रास्ते पर चलाने की इच्छा रखनेवाले (राजा) को राजशक्ति-सम्पन्न रहना चाहिए। अच्छी तरह प्रयुक्त राजशक्ति प्रजा को धर्म, अर्थ और काम से युक्त करती है। अज्ञानता-पूर्वक अथवा काम या क्रोध के कारण अनुचित रीति से । युक्त की हुई राजशक्ति वानप्रस्थ और परिव्राजक जैसे निस्पृह व्यक्तियों को भी कुपित कर देती है, फिर गृहस्थों का तो कहना ही क्या है। यदि राजशक्ति का प्रयोग सर्वथा रोक दिया जाय तो जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती

हैं इसी तरह बलवान व्यक्ति निर्बलों को कष्ट पहुँचाने लगते हैं। राजशक्ति से सुरक्षित निर्बल भी सबल हो जाता है। राजशक्ति के द्वारा राजा से पालन किये हुए चारों वर्ण और आश्रमों के सम्पूर्ण लोग अपने धर्म-कर्मों में लगे हुए बराबर उचित मार्ग में चलते हैं।"[1]

आगे तेरहवें अध्याय में कौटल्य एक गुप्तचर द्वारा कहलाता है "देखो पहले मात्स्य न्याय प्रचलित था, इससे तंग आकर जनता ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया। खेती का छठा हिस्सा (जिन्स में), तथा व्यापार की आमदनी का दसवाँ हिस्सा सुवर्ण अर्थात् नक़दी में राजा के लिए नियत किया गया। इस 'भृत्ति' (पोषण या वेतन) को पाते हुए राजाओं ने प्रजा के योग क्षेम का भार अपने ऊपर लिया। इस प्रकार राजा प्रयुक्त किये गये दंड और करों से प्रजा की बुराइयों को नष्ट करते हैं। इसीलिए जंगल में रहनेवाले (ऋषि, मुनिजन) भी अपने बीने हुए नाज का छठा हिस्सा राजा को दे देते हैं, कि यह उस राजा का हिस्सा है, जो हमारी रक्षा करता है।"

इस प्रकार अर्थशास्त्र में बताया गया है, कि जनता की सुख शान्ति के लिए राजशक्ति का होना अनिवार्य है; राजा प्रजा की रक्षा आदि करे, और वह अमुक कार्य के प्रतिफल अर्थात् वेतन-स्वरूप प्रजा से निर्धारित कर आदि वसूल करे। इससे राजा और प्रजा के पारस्परिक समझौते (कंट्रैक्ट) का आभास मिलता है। तथापि कौटल्य ने इस सिद्धांत का उल्लेख मात्र किया है, विशेष प्रतिपादन नहीं।

राज्य की उत्पत्ति—उपर्युक्त उद्धरण से, कौटल्य के राज्य के उत्पत्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों का अनुमान करना युक्ति-युक्त नहीं है। यदि कौटल्य को इस विषय में कुछ अपनी ओर से कहना

[1] कौ० अ० १।४

होता तो वह यह बातें जासूस के द्वारा और इतने संक्षेप में न कहलाता। वास्तव में कौटल्य इस विषय पर कुछ प्रकाश नहीं डालता। बात यह है कि उसकी दृष्टि में राज्य एक प्राकृतिक संस्था है ऐसी संस्था जो वर्णाश्रम अर्थात् हिन्दू समाज व्यवस्था के प्रादुर्भाव के समय से ही स्थापित है। इसलिए आचार्य इसके ऐतिहासिक विवेचन की आवश्यकता नहीं समझता।

इस विषय में एक दृष्टि और भी है। लोगों का धर्म, सदाचार, मर्यादा, कर्तव्य आदि सब कुछ राज्य के अस्तित्व पर निर्भर है। वर्णाश्रम व्यवस्था की कल्पना भी उसी दशा में हो सकती है, जब राजा विद्यमान हो, क्योंकि उसके दंड के भय से प्रत्येक आदमी स्वधर्म का पालन करता है। लोकयात्रा अर्थात् संसार का निर्वाह ही दंडनीति के ऊपर निर्भर है। इस प्रकार आचार्य राज्य की स्थापना को मानव प्रकृति के लिए आवश्यक मानता है, और वह पाठकों को इसके उत्पत्ति-सम्बन्धी विचारों के झमेले में नहीं डालता।

राज्य का उद्देश्य—जैसा पहले बताया गया है, कई हिन्दू नीतिकारों का कथन है कि राज्य की उत्पत्ति से पूर्व 'मात्स्य न्याय' प्रचलित था और उसे दूर करने के लिए राज्य की आवश्यकता हुई। 'मात्स्य न्याय' एक अर्थपूर्ण पारिभाषिक शब्द है, इसका अर्थ है बलवानों का राज्य, दुर्बलों का क्षय अथवा जिसकी लाठी उसकी भैंस, नीति और नियम का सर्वथा अभाव, अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति का अंधाधुन्ध प्रयत्न, दूसरों के अधिकारों की नितान्त अवहेलना। मनुष्यों के इस स्वेच्छाचार और पाशविक व्यवहार तथा उद्दण्डता और नृशंसता आदि को दूर करने के लिए उक्त नीतिकारों के मत से, दण्डधर या राजा की आवश्यकता हुई —राज्य की स्थापना की गयी। इस प्रकार राज्य का प्रधान उद्देश्य जनता के इस दुर्व्यवहार को रोकना और उन्हें अनुशासित जीवन

व्यतीत करने की शिक्षा देना है, जिससे सबके जान माल की रक्षा हो और सब में शान्ति, सहयोग और सद्भावनाओं की वृद्धि हो।

पाश्चात्य विद्वान् राज्य का उद्देश्य प्रायः प्रजा के लिए अर्थ और काम की प्राप्ति बताते हैं, परन्तु अन्य भारतीय आचार्यों का अनुकरण करते हुए, कौटल्य ने धर्म को भी राज्य के उद्देश्य में स्थान दिया है। उसने हिन्दू संस्कृति का विचार करते हुए राज्य का उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म की रक्षा बतलाया है। चारों वर्णों और चारों आश्रमों के धर्म का निरूपण करके वह लिखता है कि "राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजा को धर्म-मार्ग से भ्रष्ट न होने दे। अपने-अपने धर्म का पालन कराता हुआ राजा यहाँ और परलोक में सुखी होता है। श्रेष्ठ मर्यादा की व्यवस्था होने पर और वर्णाश्रम धर्म की ठीक स्थिति रहने पर त्रयी (वेद शास्त्र) से प्रतिपादित धर्म के द्वारा रक्षा की हुई प्रजा सदा सुखी रहती है।"[1] इससे, राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में कौटल्य की पाश्चात्य राजनीतिकारों से विशेषता स्पष्ट सूचित हो जाती है।

भिन्न-भिन्न शासन-पद्धतियां—संसार में समय-समय पर भिन्न-भिन्न स्थानों में विविध शासन-पद्धतियां प्रचलित रही हैं। इस समय भी राज्यों के अनेक भेद हैं। उन के सम्बन्ध में विशेष न लिख कर यहां यही कहना अभीष्ट है कि देश काल के अनुसार राज्य-संस्था में परिवर्तन होता रहता है, भिन्न-भिन्न भू-भागों में एक समय में, तथा एक ही देश में समय-समय पर पृथक्-पृथक् रूप की शासन-पद्धतियां प्रचलित होती हैं। अपने चिरकालीन प्राचीन इतिहास में भारतवर्ष विविध शासनपद्धतियों का अनुभव कर चुका है, उन के गुण-दोष देख चुका है।

कोई पद्धति सवर्था निर्दोष नहीं—वास्तव में कोई पद्धति सर्वथा अच्छी नहीं होती, अथवा यह कह सकते हैं कि अच्छी से अच्छी

[1]कौ० अ० १। ३

पद्धति भी समय पाकर विकारग्रस्त होजाती है। इस बात की बड़ी आवश्यकता रहती है कि रीति, नीति, व्यवहार आदि की तरह प्रचलित शासनपद्धति पर यथेष्ट निरीक्षण और नियंत्रण रहे और आवश्यकतानुसार उसका संशोधन या संस्कार होता जाता रहे। अन्यथा, आज बहुत सुन्दर दिखने पर भी वह न जाने कब निन्द-नीय और कष्टप्रद हो जाय।

यद्यपि यह बात सर्व-सम्मत है कि शासन-व्यवस्था का उद्देश्य और आदर्श जनता का हित-साधन और उन्नति होना चाहिए और यह तभी अच्छी तरह हो सकता है जब शासन-शक्ति सर्वसाधारण जनता के हाथ में रहे, परन्तु किस प्रकार की शासनपद्धति में प्रजा का प्रभुत्व पर्याप्त रूप से रहेगा, यह भी बहुत विचारणीय है, साधारण अनुमान भ्रममूलक हो सकता है।

लोकतंत्र—उदाहरण-स्वरूप, आजकल लोकतंत्र या प्रजातंत्र का पक्ष बहुत प्रबल है। इसमें संदेह भी नहीं कि इस पद्धति के व्यवहार में आने से अधिकांश आदमियों को शासन-सम्बन्धी कार्यों में भाग लेने का अवसर मिलता हैं, उनकी बुद्धि का विकास होता है। वे शासन-प्रबन्ध का अनुभव प्राप्त करते है। यदि वे कभी-कभी अपनी भूल या अल्पज्ञता से हानि भी उठाते हैं तो इससे आगे के लिए उन्हें शिक्षा मिल सकती हैं। इन बातों का विचार करके कुछ समय से संसार के भिन्न-भिन्न देशों में प्रजातन्त्र राज्य की स्थापना हुई है, तथा अन्य देशों में इसके लिए आन्दोलन हो रहा है।

परन्तु यह पद्धति भी सर्वथा निर्दोष नहीं है; कम से कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह भी दूषित हो सकती है, कई बातों में भिन्न-भिन्न देशों में इसके दोष स्पष्ट-रूप से प्रगट होने लगे हैं। उदाहरणवत् वहाँ की निर्वाचन-प्रणाली बहुत खर्चीली हो

गयी है, तथा साधारण लोगों के मत खरीदे जा सकते हैं, धनवान या प्रभावशाली व्यक्ति केवल धन या प्रभाव के बल पर निर्वाचित हो जाता है और अन्य व्यक्ति बहुत गुण-सम्पन्न होने पर भी व्यवस्था-कार्य में भाग लेने से वंचित रह जाते हैं। पुनः व्यवस्थापक सभाओं में अनेक आदमी विषय का महत्व न समझते हुए ही जिधर प्रभावशाली व्यक्ति का रुख देखते हैं, उसी ओर हाथ उठा देते हैं; अथवा दलबंदी के कारण अपने दल के साथ मत देने को बाध्य होते हैं, चाहे उनकी आन्तरिक इच्छा इसके विपरीत ही क्यों न हो। इन बातों से प्रजातन्त्र के मूल उद्देश्य पर ही कुठाराघात हो जाता है। इसलिए कितने ही विवेकशील पुरुषों ने इन बातों के विरूद्ध आवाज उठानी शुरू कर दी है। कुछ तो प्रजातन्त्र पद्धति के वर्तमान दोषों को देखकर प्रायः निराश हो चले हैं और वे 'प्रजातन्त्र विफल मनोरथ हुआ' 'प्रजातन्त्र का भविष्य अंधकारमय है' आदि घोषणाएँ कर रहे हैं। बात यह है कि प्रजातन्त्र शासन वास्तव में तभी सफल हो सकता है, जब जनता का चरित्र, शिक्षा, बुद्धि, प्रबन्ध-सम्बन्धी योग्यता आदि गुण यथेष्ट प्रमाण में उन्नत हों तथा लोकमत बहुत संगठित तथा ऊँचे दर्जे का हो। इस बात की प्रत्येक देश में तथा हर समय काफ़ी कमी रहती है।

राजतन्त्र—इसी तकार राजतन्त्र में कुछ दोष हैं तो कुछ गुण भी हैं। राजतंत्र में सर्वसाधारण को अपनी शक्तियों के विकास का उतना अवसर नहीं मिलता, जितना प्रजातन्त्र में मिलता है। इसके साथ ही राजतन्त्र का स्वरूप थोड़े-बहुत समय में पैत्रिक या वंशानुगत हो जाता है और एक राजा चाहे जितना गुणवान धर्मात्मा, प्रजा-सेवी और संयमी हो, इस बात का कोई निश्चय नहीं रहता कि उसके बाद उसका उत्तराधिकारी भी वैसे ही सद्‌गुणों से विभूषित रहेगा; संसार

के इतिहास में अनेक अवसरों पर सुयोग्य नरेश का उत्तराधिकारी सर्वथा अयोग्य प्रमाणित हुआ है। इन प्रत्यक्ष अवगुणों के होते हुए भी राजतन्त्र में कुछ अच्छे महत्वपूर्ण गुण हैं। जब राजा आदर्श राजा हो और उसके सलाहकार तथा कर्मचारी भी अच्छे हों[1] तो राजतन्त्र में सुधार या उन्नति की बातें प्रजातन्त्र की अपेक्षा बहुत अधिक तथा बहुत शीघ्र हो जाती हैं। राज्य वास्तव में रामराज्य हो जाता है।

हमें यहाँ किसी विशेष राजपद्धति के गुण दोषों का विवेचन करना नहीं है, और न भिन्न-भिन्न राजपद्धतियों की तुलना ही करनी है। हमें केवल यह कहना अभीष्ट है कि प्रत्येक प्रकार की पद्धति में कुछ गुण और कुछ दोष होना अनिवार्य है, विचारशीलों का काम है कि नाम या रूप पर विवाद उपस्थित न कर तत्व की बात ग्रहण करें और प्रस्तुत वस्तु को ऐसी बनालें जिससे वह तत्कालीन परिस्थिति में अधिक से अधिक अनुकूल हो और विविध आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

कौटल्य का विचार: राजतन्त्र-सम — टिल्य ने यही कार्य किया है। वह भिन्न-भिन्न प्रकार की राजपद्धतियों का वर्गीकरण या उनके गुण-दोषों का विवेचन नहीं करता। वह यह नहीं बतलाता कि अमुक राजपद्धति आदर्श है और अमुक निकृष्ट। उसने तत्कालीन परिस्थिति में राजतन्त्र को ठीक समझ कर इसका ही वर्णन किया है। अन्य भेदों का केवल प्रसंगानुसार उल्लेख किया है। हाँ, उसने राजतन्त्र को अधिक से अधिक गुणोंसे सम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया। उसने अपने नियमों में इस बात का भी यथेष्ट ध्यान रखा कि साधारणतया जो विकार राजतन्त्र में आजाने स्वाभाविक होते हैं, वे न आने पावें। उसने राज्य का उद्देश्य केवल अर्थ और काम न रख कर धर्म भी निर्धारित किया

[1] स्मरण रहे कि यह शर्त बहुत आवश्यक है।

है। वह भली भाँति जानता था कि राजतन्त्र में मुख्य आधार राजा होता है, राज्य का अच्छा या बुरा होना बहुत कुछ उस पर निर्भर रहता है। इसलिए उसने राजा को यथेष्ट गुण-सम्पन्न बनाने का यत्न किया है। साथ ही वह यह भी नहीं भूला है कि विशेष अवस्था में अच्छा राजा भी अनुचित व्यवहार कर सकता है इसलिए उसने राजा पर पुरोहित आदि का यथेष्ट नियन्त्रण रखा है।[1]

राजतन्त्र पद्धति में उत्तराधिकारी का प्रश्न बहुत विचारणीय होता है। अतः आचार्य ने राजपुत्र की शिक्षा, संगति और दिन-चर्या का समुचित विधान किया है। उसने स्पष्ट कर दिया है कि धार्मिक और यथेष्ठ-गुणसम्पन्न होने की दशा में ही राजकुमार राज्य का उत्तराधिकारी होगा। इस विषय पर विशेष आगे सातवें अध्याय में लिखा गया है। राजकुमार के अतिरिक्त मन्त्रियों तथा अन्य पदाधिकारियों पर भी आचार्य कौटल्य की यथेष्ट दृष्टि रही है; किसके, कहाँ, क्या कर्तव्य और सुविधायें होनी चाहिएँ, किसे क्या अधिकार प्राप्त हों, इन बातों का आचार्य ने विशद विवेचन किया है। उसने ऐसा प्रयत्न किया है कि उसके निर्धारित नियमों से राज्य का सब कार्य भली भाँति सम्पादित हो सके, और प्रजा सब प्रकार से सुख समृद्धि तथा संतोष का जीवन व्यतीत करे।

आचार्य के उपर्युक्त विषयों के विचारों का आगे प्रसंगानुसार विवेचन किया जायगा। यहाँ हम यह और बतलाते हैं कि अर्थ-शास्त्र में अन्य शासनपद्धतियों के सम्बन्ध में क्या उल्लेख हुआ है।

कुल-राज्य सम्बन्धी विचार—मालूम होता है कि एक-तन्त्र राज्य कुल-राज्य में भी परिणत हो सकता था। राज्य

[1] कौ० अ० १।७

के उत्तराधिकारी का विचार करते हुए कौटल्य विशेष परिस्थिति में सम्पूर्ण कुल के अधिकार का भी उल्लेख करता है। यही नहीं, वह इस पद्धति की प्रशंसा करता हुआ भी ज्ञात होता है। कई गुणवान पुत्र होने की दशा में ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी का अधिकारी बतलाता हुआ आचार्य लिखता है कि सम्पूर्ण कुल का ही राज्य पर अधिकार होवे, अर्थात वे सब मिलकर राज्य-शासन के कार्य को चलावें; क्योंकि कुल समुदाय के नेता होते हुए राज्य सरलता से जीता नहीं जा सकता। पुनः, समुदाय के राजा होने पर यदि एक में कोई व्यसन हो भी जाय तो दूसरे व्यक्ति राज्य-कार्य को यथा-विधि चलाते रहते हैं, और देश में प्रजा की सुखमय अवस्था निरन्तर बनी रहती है।[1] हिन्दू कुल-राज्य एक प्रकार से कुलीन राज्य-पद्धति अर्थात् सरदार-तन्त्र (अरिस्टाक्रैसी) का द्योतक है।

संघ-राज्यों सम्बन्धी विचार—अर्थशास्त्र में राजनैतिक संघों का भी विचार किया गया है। भारतवर्ष में सिकन्दर के आक्रमण के समय बहुत से प्रजासत्तात्मक राज्य थे। ये संघ-राज्य अकेले-अकेले पर्याप्त शक्तिशाली थे, परन्तु इनमें यह क्षमता न थी, और हो भी नहीं सकती थी कि अपनी-अपनी स्वतंत्रता और पृथक् अस्तित्व को बनाये रखते हुये अपना संगठन करके किसी प्रबल शक्ति का सामना कर सकें। इसलिए ये सिकन्दर के आक्रमण को रोकने में असमर्थ रहे। इसके पश्चात् मौर्य सम्राटों ने बहुत से नगर-राष्ट्रों को हटाकर विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस प्रकार यहाँ की शक्ति केन्द्रित हो जाने के कारण यह देश विदेशियों से अपनी रक्षा करने में समर्थ हुआ। परन्तु मौर्य सम्राट् सब संघ-राज्यों को पूर्णतः नष्ट न कर सके थे, जो बचे थे, उनसे मित्रता करने में ही उन्होंने अपना कल्याण समझा। ये राज्य

[1] कौ० अ० १।१७

केन्द्रीय शक्ति का प्रभुत्व मानते हुए भी अपने स्थानीय शासन में स्वतंत्र रहे। पीछे जब मौर्य साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई, इन सब राज्यों ने फिर बल पकड़ा। अन्ततः गुप्त साम्राज्य का उदय हो जाने पर ये छिन्न-भिन्न हो गये। इनके ह्रास का कारण बाहरवालों के आक्रमण तथा देश में साम्राज्य निर्माण का प्रयत्न था।

अस्तु, आचार्य कौटल्य इन संघों की शक्ति तथा महत्व खूब अनुभव करता है। इसी लिए वह चाहता है कि या तो ये राज्य साम्राज्य के अनुकूल, अधीन और सहायक होकर रहें अन्यथा इनकी शक्ति का यथा-सम्भव ह्रास कर दिया जाय। 'संघ वृत्त' अधिकरण में वह कहता है कि संघ को प्राप्त करना, सेना की सहायता या मित्र राज्य की प्राप्ति से अधिक उत्तम है, क्योंकि इकठ्ठा रहने से संघों को शत्रु दबा नहीं सकते। यदि संघ अपने अनुकूल हों तो राजा साम-दाम के द्वारा उनका अपने हितार्थ उपयोग करे; यदि वे प्रतिकूल हों तों भेद और दंड का व्यवहार करे।[1]

आचार्य ने दो प्रकार के संघों का उल्लेख किया है, (१) वार्ता-शस्त्रोपजीवी (२) राजशब्दोपजीवी। प्रायः लेखक वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ का अर्थ करते हैं वार्ता, (अर्थात कृषि व्यापार आदि) से एवं शस्त्र से आजीविका प्राप्त करने वाला संघ। परन्तु श्री० जायसवाल जी ने लिखा है कि उपजीवी का अर्थ 'आजीविका प्राप्त करने वाला' नहीं लिया जाना चाहिए, क्योंकि ऐसे करने से राज-शब्दोपजीवी का अर्थ 'राजा पद से आजीविका प्राप्त करने वाला' होगा, जो असंगत है। उनका मत है कि उपजीवी का अर्थ ध्यान देने वाला या पालन करने वाला लिया जाना चाहिए। इस प्रकार वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ वे संघ थे जो कृषि व्यापार और युद्ध की

[1] कौ० अ० ११ । १

ओर ध्यान देते थे, अर्थात जो अपने सदस्यों को वार्ता और शस्त्र विद्या में दक्ष या अभ्यस्त होने का आदेश करते थे। इसी प्रकार राजशब्दोपजीवी संघ वे संघ थे जो अपने विशिष्ट सदस्यों या शासकों को राजा का पद ग्रहण करने का आदेश करते थे। क्योंकि इन संघों को दूसरे संघों से विभिन्न प्रकार का बताया गया है, इस से स्पष्ट है कि वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ के सदस्य राजा पद को ग्रहण करने के अधिकारी नहीं होते थे। राजशब्दोपजीवी संघों को जनतत्र संघ कहा जा सकता है। कौटल्य ने काम्बोज (काबुल) और सुराष्ट्र (गुजरात) के क्षत्रिय आदि वर्गों के संघ प्रथम प्रकार के कहे हैं, और लिच्छविक, व्रजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर कुरु और पांचाल आदि के संघों की गणना दूसरे प्रकार के संघों में की है।[1]

कौटल्य ने इन संघों की शक्ति का ह्रास करने के अनेक उपाय लिखे हैं। उसने बहुत होशियार गुप्तचर भेज कर उनकी एकता भंग करने तथा उनमें फूट डलवाने और कलह करवाने एवं संघों के मुखिया को गुप्त रीति से मरवा डालने के विषय में सविस्तर विचार किया है। तथापि जैसा ऊपर बताया जा चुका है, जो संघ केन्द्रीय शक्ति से अनुकूल व्यवहार करें, उसकी अधीनता में रहना स्वीकार करें, उनके साथ वह अच्छा बर्ताव किये जाने के पक्ष में है। उपर्युक्त अधिकरण के अन्तिम भाग में वह लिखता है कि (राजा) संघों में एक मुख्य राजा बन कर रहे अर्थात, उन सब

[1]श्री० उदयवीर शास्त्री ने 'राज शब्दोपजीवी संघ' का अर्थ 'नाम-मात्र के राजा कहलाने वाले पुरुषों के संघ' किया है। परन्तु हमें श्री-सत्यकेतु विद्यालङ्कार का यह लिखना उचित जान पड़ता है कि इनको राजशब्दोपजीवी' इस लिए कहा गया है कि इनका प्रत्येक नागरिक राजा कहलाता था। इसी लिए एक जातक में कहा गया है कि लिच्छवी लोगों में ८४ हज़ार राजा थे।

के ऊपर अपना पूर्ण आधिपत्य रखता हुआ ही अपने व्यवहार को चलावे। और, संघ भी ऐसा व्यवहार करे जिससे राजा से और उसके द्वारा फैलाये हुए जालों से अपनी रक्षा कर सके। निदान कौटल्य की इच्छा यह थी कि देश में कोई राजा का प्रतिद्वन्दी होकर न रहे, सब राजा की छत्रछाया स्वीकार करके रहें, फिर राजा भी उनके सुख स्मृद्धि की कामना रखता हुआ उनके प्रति यथेष्ट कर्त्तव्य का पालन करता रहे।

स्थानीय संस्थाओं सम्बन्धी नीति—यद्यपि कौटल्य राज्य की सत्ता को राजा और महात्माओं में केन्द्रीभूत करता हुआ मालूम होता है और वह आधुनिक दृष्टि से प्रजातंत्र के पक्ष में नहीं था तथापि उसने स्थानीय संस्थाओं के अधिकारों में हस्तक्षेप की नीति का प्रतिपादन नहीं किया, वरन् उनके नियमों को राजमान्य ठहराया है। इस प्रकार उसने लोकसत्ता की यथेष्ट रचना की है। इस विषय में विशेष विचार आगे एक स्वतंत्र परिच्छेद में किया जायगा। यहाँ यह कह देना पर्याप्त है कि आचार्य का लक्ष्य यह रहा कि राजा और प्रजा में परस्पर सद्भाव रहे और राजा स्वेच्छारी न होकर प्रजा के सुख संतोष और शक्ति को ही अपना मुख्य बल समझे।

तीसरा अध्याय

राज्य के कार्य

प्राक्कथन—अर्थशास्त्र में राज्य के सब कार्यों की सूची एक ही स्थान पर नहीं दी गयी है प्रसंगानुसार जगह-जगह उनका वर्णन आया है। उदाहरणार्थ छब्बीसवें प्रकरण से कोष-वृद्धि सम्बन्धी कार्य ज्ञात हो जाते हैं:-जनपद की सम्पत्ति बढ़ाना, जनपद के पुराने आचार व्यवहार का ध्यान रखना, चोरों का निग्रह करना, अध्यक्षों को धनापहरण करने से रोकना (अथवा प्रजा से रिश्वत आदि लेकर प्रजा को कष्ट पहुँचाने वाले अध्यक्षों से उसकी रक्षा करना), छोटे-बड़े सब तरह के अन्नों की उपज करवाना, जल और स्थल में उत्पन्न होने वाली विक्रेय वस्तुओं को खूब बढ़ाना, अग्नि आदि के उपद्रवों से स्वयं तथा जनपद को बचाना आदि। इसी प्रकार आचार्य 'दैवी आपत्तियों के प्रतिकार' प्रकरण के आरम्भ में लिखता है कि 'दैववश होनेवाले आठ महाभय (संकट) हैं :—अग्नि, जल, बीमारी, दुर्भिक्ष, चुहे, व्याघ्र, सांप और राक्षस। राजा इन सब से जनपद की रक्षा करे।'[1] राज्य के विविध कार्यों के विषय में आचार्य के कुछ विचार, अर्थशास्त्र के भिन्न-भिन्न स्थानों से आगे दिये जाते हैं।

शान्ति और सुरक्षा—विदेशी आक्रमणकारियों से देश की रक्षा करने के लिए, यहाँ उस समय जो सेना आदि की व्यवस्था थी, वह अन्यत्र बताई गयी है। कौटल्य ने देश की भीतरी रक्षा और शान्ति के लिए भी समुचित विचार किया है। उसने विस्तार-

[1] कौ० अ० ४। ३

पूर्वक बतलाया है कि राज्य की आन्तरिक आवश्यकताओं के अनुसार कैसे कैसे दुर्ग तथा गुप्तचरों का आयोजन होना चाहिए। जो गुप्तचर देश की सीमा के भीतर थे, उनका कार्य केवल यही नहीं था, कि जनता में से अपराधियों या राजद्रोहियों का पता लगावें, बरन् इस बात की ओर भी यथेष्ठ ध्यान देना उनका कर्त्तव्य था कि कौन राजकर्मचारी किस नियम का भंग करता है तथा प्रजा को कष्ट देता है। कौटल्य के गुप्तचर राजा आदि को इस बात की सूचना देते रहते थे कि सर्वसाधारण का अमुक विषय में असंतोष है अथवा उन्हें अमुक अभाव खटकता है। इससे स्पष्ट है कि ये रक्षा एवं शान्ति-स्थापन में कितने उपयोगी होंगे।

विस्तारभय से हम गुप्तचरों के सम्बन्ध में लिखने में असमर्थ हैं। उनके निम्नलिखित-भेदों से उनके कार्य-क्षेत्र आदि का कुछ परिचय हो जायगा।

१—कापटिक, छात्रवेश में रहने वाले।

२—उदास्थित, संन्यासी वेष में रहनेवाले और विद्यार्थियों सहित कृषि व्यापार करनेवाले।

३—गृहपतिक, गरीब किसान के वेश में रहते हुए राज्य की ओर से दी हुई भूमि पर कृषि करनेवाले।

४—वैदेहिक, गरीब व्यापारी के रूप में काम करनेवाले।

५—तापस, साधु के वेश में अन्य शिष्यों सहित रहनेवाले, और लोगों को भविष्य बतानेवाले।

६—सत्री, अनाथ आदि, विविध विद्याओं को जाननेवाले।

७—तीक्ष्ण, दुस्साहस करके तथा अपनी जान जोखिम में डाल कर काम करनेवाले।

८—रसद, कठोर, क्रूर स्वभाववाले।

९—भिक्षुकी, बड़े-बड़े घरानों में जानेवाली स्त्रियाँ।

इनमें कापटिक आदि प्रथम पांच प्रकार के गुप्तचर एक ही स्थान पर रहकर काम करने के कारण 'संस्था' कहे जाते थे, और सत्री आदि गुप्तचर संचार कहाते थे, क्योंकि वे घूम-फिर कर अपना कार्य सम्पादन करते थे।[1]

इनके अतिरिक्त सिद्ध, तपस्वी, सन्यासी, निरंतर घूमनेवाले, भाट, ऐन्द्रजालिक, शकुन बतानेवाले, ज्योंतिषी, वैद्य, नट, भांड कलवार, हलवाई और रसोइये आदि से भी गूढ़ कंटकों (छिपे हुए प्रजापीड़कों) का पता लगाने का काम लिया जाता था।[2]

साधारण नागरिक देश की आन्तरिक रक्षा या शान्ति में पुलिस की ही बात आवश्यकता और उपयोगिता समझते हैं। उन्हें गुप्तचरों की बात बड़ी अप्रिय मालूम होती है परन्तु वे तनिक विचार करें तो उन्हें ज्ञात होजायगा कि आधुनिक उन्नत से उन्नत राज्यों में भी उनकी यथेष्ट व्यवस्था रहती है। ऐसा कोई बिरला राज्य होगा, जहाँ गुप्तचरों का विभाग अनिवार्य रूप से न रहता हो। पिछले योरपीय महायुद्ध में गुप्तचरों ने अपने-अपने राज्य की सफलता के लिए कैसा महत्वपूर्ण यत्न किया, यह पाठकों को ज्ञात ही होगा। हाँ, आजकल कहीं कहीं विशेषतया पराधीन देशों में गुप्तचरों का व्यवहार प्राय; प्रजा-विरोधी होने से उनका सर्वसाधारण पर बड़ा आतंक सा रहता है। परन्तु कौटल्य के गुप्तचर केवल प्रजा के दोषों को ही देखनेवाले न थे वे उसके कष्टों की ओर भी पर्याप्त ध्यान देते थे। वे महात्माओं और मंत्रियों तक के भावों और विचारों का पता लगाकर आवश्यकता होने पर उनकी भी शिकायतें करने को उद्यत रहते थे। हिन्दू राजतंत्र के गुप्तचरों के आदर्श का अनुमान इस बात से लग सकता है कि श्री० रामचन्द्र जी को एक गुप्तचर के द्वारा प्रजा के भाव मालूम

[1] कौ० अ० १।११ और। १।१२

[2] कौ० अ० ४।४

हो जाने पर उन्हें प्राणप्यारी जानकी जी का परित्याग करना पड़ा था।

कृषि—राज्य जनता को कृषि सम्बन्धी विविध सुविधाएँ देने के अतिरिक्त, स्वयं भी कृषि कार्य करता था। वह सिंचाई के लिए कुएँ तलाबों के सिवाय नहरों की भी व्यवस्था करता था। पानी जमा करने के लिए बाँध बाँधे जाते थे।[1] किसानों को आवश्यकता-नुसार आर्थिक सहायता दी जाती थी। वे सैनिक सेवा से मुक्त रखे जाते थे, सेना के आदमी तथा अन्य राजकर्मचारी उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नही देसकते थे, देश में लड़ाई-भिड़ाई होने पर भी कृषि कार्य प्रिविघ्न होता रहता था। कृषि विभाग सीताध्यक्ष के अधीन था। राज्य की ओर से इस बात का भी प्रबन्ध था कि वर्षा का अनुमान किया जाय, होगी या नहीं, कब और कितनी होगी, तथा जो हुई है वह कितनी हुई है। अर्थशास्त्र में इस विषय में बहुतसी ब्यौरेवार बातें लिखीं हैं।[2]

कौटल्य ने किसानों के हित का यथेष्ट विचार किया है। वह उनकी उन्नति में राजा की उन्नति समझता है। वह लिखता है कि राजा को उचित है कि वह धान्य (बीज आदि के लिए, अथवा आवश्यकता होते पर खाने के लिए भी), पशु और धन आदि खेती के उपयोगी पदार्थों के द्वारा यथावसर किसानों को सहायता देता रहे, फसल पैदा होने पर किसान भी अपने सुभीते के अनुसार धीरे-धीरे ये वस्तुएं राजा को दे देवें। राजा किसानों के स्वास्थ्य के लिए धन देता रहे, जिससे कि सुपुष्ट किसान अधिक काम करके

[1] इस विषय का सविस्तर विचार हमने 'कौटल्य के आर्थिक विचार' पुस्तक में किया है। गिरनार (काठियावाड) के सम्बन्ध में एक प्राचीन शिला-लेख से मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त के समय में जलाशय किस ढंग के होते थे।

[2] कौ० अ० २,२४, २।१

राज कोष के बढ़ाने वाले हों।[1] स्वास्थ्य बढ़ाने के लिए दिया हुआ धन अर्थशास्त्र में 'अनुग्रह' कहा गया है, यह धन अखाड़े, गदका आदि भिन्न भिन्न प्रकार के शक्तिवर्द्धक व्यायाम में खर्च किया जाय। बिगड़े हुए स्वास्थ्य को सुधारने के लिए दिया हुआ धन 'परिहार' कहा गया है, यह धन गाँव-गाँव में, औषधालय आदि स्थापित करने में व्यय किया जाय।[2]

इस विषय की अन्य बातों के सम्बन्ध में हमने आचार्य के विचार अन्यत्र प्रसंगानुसार दिये हैं। यहां उसकी कृषि-रक्षा विषयक एक बात और देनी अभीष्ट है। वह लिखता है कि राजा दंड विष्टि और कर आदि के द्वारा उत्पन्न हुई बाधाओं के कारण नष्ट होती हुई कृषि को बचावे अर्थात् किसानों को दंड देते समय, और उनसे लिये जाने वाले कर का निश्चय करते समय इस बात का यथेष्ट ध्यान रखे कि इन बातों से उनके कृषि-कार्य में कोई बाधा उपस्थित न हो।[3] कौटल्य का यह भी आदेश है कि फ़सल के दिनों में किसानों को ऋण के लिए गिरफ़तार न किया जाय।

इन बातों से स्पष्ट हैं कि आचार्य किसानों की सुविधाओं, रक्षा, और उन्नति के लिए कितना सतर्क था।

पशु रक्षा और उन्नति—कौटल्य ने राज्य के लिए देश की पशु-सम्पत्ति बढ़ाना आवश्यक ठहराया है। वह इस बात की विस्तार-पूर्वक योजना करता है कि गोऽध्यक्ष गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरे, ऊँट खच्चर, और कुत्ते आदि पशुओं की देख-भाल करे, इन की नस्ल बढ़ाये। विवीताध्यक्ष पशुओं के चारे और चरागाहों का प्रबन्ध करे तथा चरागाहों में चरने वाले पशुओं की चोरों एवं हिंसक जानवरों से रक्षा करे। अश्वाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्ष न केवल अच्छे घोड़ों और हाथियों को पर्याप्त संख्या में रखें, वरन् उनकी

[1] कौ० अ० २।१
[2] कौ० आ० २।१ [3] कौ० आ० ३।११

समुचित शिक्षा की भी व्यवस्था करें। सब पशुओं के भोजनादि के अतिरिक्त औषधि का भी समुचित प्रबन्ध रखा जाता था। मांस के लिए कुछ खास-खास पशु ही मारे जा सकते थे, और वे भी निर्दिष्ट स्थानों तथा दिनों में। इन नियमों के उलंघन करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। कौटल्य ने यह भी लिखा है कि चोर, हिंसक जन्तु, विष प्रयोग, तथा अन्य प्रकार की व्याधियों से, राजा पशुओं की रक्षा करे।[1]

पशु-सम्पत्ति को बढ़ाने का लक्ष्य सार्वजनिक हित तो था ही, इसके अतिरिक्त बहुत से पशु, विशेषतया घोड़े और हाथी युद्ध के लिए भी बहुत उपयोगी थे।

व्यापार—राज्य सर्वसाधारण द्वारा किये जाने वाले व्यापार का निरीक्षण और नियन्त्रण तो करता ही था, इसके अतिरिक्त वह स्वयं भी एक बड़ी व्यापारिक संस्था था। राज्य को बहुत से कृषिजन्य पदार्थ कर-स्वरूप मिलते थे, तथा वह अपनी खेती कराता था, एवं उसके विविध कारखानों में बहुत सी चीज़ें तैयार होती थीं। इनमें से जो वस्तु राजकर्मचारियों आदि के लिए आवश्यक समझी जाती थी, उन्हें छोड़कर, राज शेष की बिक्री कराता था, तथा अपनी आवश्यकताओं के लिए वह तरह-तरह का सामान खरीदता था। यह सब कार्य पण्याध्यक्ष के सुपुर्द था। वह अधिकारी राज्य तथा सर्वसाधारण के लिए विविध व्यापारिक विषयों की जानकारी प्राप्त करता था, और देशी तथा विदेशी दोनों प्रकार के व्यापार की, जनता के हित का ध्यान रखते हुए उन्नति करता था।[2] यौतवाध्यक्ष देश के व्यापारियों

---

[1]कौ० अ० २।१

[2]कौ० अ० २।१६

के लिए खरे दोष-मुक्त बटखरे और माप आदि की व्यवस्था करता था।[1]

राज्य जनता के लिए (जनता से धातु तथा शुल्क लेकर) सोने चाँदी आदि के सिक्के ढालता था।[2]

व्यापार के लिए रास्ते तथा सड़कें (वणिक पथ) बनवायी तथा मरम्मत की जाती थीं। जल मार्ग से होने वाले व्यापार के लिए नौकाएँ और जहाज़ यथेष्ट संख्या में बनाये जाते थे।[3]

दैवी आपत्तियों का प्रतिकार—आचार्य ने राज्य के अन्याय कार्यों में यह भी विस्तारपूर्वक बतलाया है कि वह प्रजा की, दैवी संकटों से किस प्रकार, किन-किन नियमों द्वारा रक्षा करे। हम संक्षेप में उसके कुछ विचारों का परिचय देंगे। यह बात कितने महत्व की है कि आकस्मिक आपत्तियों के उपस्थित होने पर अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व भी यहां राज्य लोगों को भाग्य भरोसे नहीं छोड़ता था। जबकि प्राचीन राज्यपद्धति में राजा प्रजा का, पिता पुत्र का सम्बन्ध था और कौटल्य ने इस बात पर यथेष्ट बल दिया है, तो दैवी संकटों को निवारण करना तथा उन से प्रजा की रक्षा करना, राज्य का अनिवार्य कर्तव्य होना स्वाभाविक ही है।

(क) अग्नि—उन दिनों बहुत से मकान लकड़ी के होते थे। इस के अतिरिक्त, गाँवों में कुछ मकान फूस के होते हैं। इन में आग लगने की बहुत आशंका रहती है। अत आचार्य लिखता है कि 'गर्मी की ऋतु में ग्रामीण जन घर से बाहर भोजन आदि बनावें, वे अपने पास इन वस्तुओं का संग्रह रखें, जिससे समय पर इनकी खोज न करनी पड़े :—जल पात्र, जल की बड़ी नाद,

[1]कौ० अ० २।१६ मूल में पौतवाध्यक्ष छपा है, यह शब्द अशुद्ध है, इसकी जगह यौतवाध्यक्ष चाहिए।

[2]कौ० अ० २।१२

[3]कौ० आ० २।४ और २।२८

लकड़ी का बना हुआ पानी से भरा बर्तन, सीढ़ी, कुल्हाड़ा, सूप, या छाज (धुआँ हटाने के लिए, अंकुश (सामान निकालने के वास्ते, अथवा जलती लकड़ियों को गिराने के लिए), कच अर्थात् रस्से और रस्सियाँ, छप्पर के ऊपर फूँस उतारने का औज़ार और चमड़े की मशक। अग्नि के द्वारा आजीविका प्राप्त करने वाले लुहार, बढ़ई आदि नगर के एक ओर बसाये जायें। गर्मियों में दोपहर को आग न जलाई जाय। गलियों और चौराहों में जल के भरे हजारों घड़ों का प्रबन्ध रहे। आग लगने पर पास के आदमियों को उसे बुझाने में सहायता देनी चाहिए। आग लगी हुई देख कर सहायता के लिए न दौड़ने वालों को दंड दिया जाय। आग लगाने वालों को कठोर दंड दिया जाय। जान बूझकर आग लगाने वालों के लिए तो आचार्य ने मृत्यु-दंड ही उचित ठहराया है।[1]

कौटल्य राजभवन की अग्नि से रक्षा करने लिए अन्याय उपायों में मंत्र-तंत्र आदि का प्रयोग भी बतलाता है।[2]

(ख) जल की बाढ़ से रक्षा—इस विषय में आचार्य बतलाता है कि वर्षा ऋतु की रातों में नदी के पास के गाँव, नदी के किनारों को छोड़कर, दूर जाकर निवास करें। वे लकड़ी, बाँस के बेड़े तथा नाव आदि तैरने के साधनों का संग्रह रखें; नदी के प्रवाह के साथ बहते हुए या डूबते हुए आदमी को तूम्बी, मशक या बेड़े के सहारे तैरावें, अर्थात् बचावें। जो पुरुष डूबते हुए आदमी को देखकर बचाने का यत्न न करे, उसेदंड दिया जाय; हाँ, यदि उनके पास तैरने का कोई साधन न हो तो ये अपराधी न समझे जायें।[3]

(ग) बीमारियों का इलाज—औषधियों और चिकत्सा के सम्बन्ध में आचार्य ने विस्तार-पूर्वक लिखा है। संक्रामक तथा अन्य रोगों

[1] कौ० अ० २।३६

[2] कौ० अ० १।१७ [3] कौ० अ० ४।३

को दूर करने के सम्बन्ध में तथा पशुओं के इलाज के बारे में कौटल्य ने विविध उपाय बतलाये हैं। महामारियों को रोकने के आचार्य ने कुछ ऐसे नुस्खे भी लिखे हैं, जिनके धुएँ से बहुत लाभ हो। वह वैद्यों से दवाई दिलवाने तथा अनुभवी और शान्त प्रकृति के मनुष्यों द्वारा जनता में सान्त्वना के विचार फैलाने की, तथा पूजा पाठ कराने की भी योजाना करता है।[1]

(घ) दुर्भिक्ष निवारण—पहले कहा जा चुका है कि आचार्य ने खेती के कार्य को वर्षा के आश्रित नहीं रखा, उसने सिंचाई की यथेष्ट व्यवस्था की। इससे दुर्भिक्ष की सम्भावना बहुत कम रह जाती है। फिर भी यदि संयोग से दुर्भिक्ष पड़ ही जाय तो कौटल्य उसके लिए काफी सतर्क था। उसने व्यवस्था की है कि राज्य की ओर से अन्नादि का कोष्ठागार बड़ा भंडार रहे, और दुर्भिक्ष होजाने पर राजा प्रजा को बीज तथा अन्नादि बिना मूल्य या अल्प मूल्य पर देवे। वह यह भी लिखता है कि (१) क्षुधा-पीड़ितों को उचित वेतन देकर उनसे 'दुर्ग सेतु कर्म' अर्थात् दुर्ग या सेतु का निर्माण करावे। (२) जो व्यक्ति कार्य करने में असमर्थ हों, उन्हें अन्न देवे। (३) देश-निक्षेप किया जाय, अर्थात् उन्हें कष्ट के समय समीप के दूसरे देश में भेज दे[2] अथवा (४) अपने मित्र-राजाओं से सहायता लें, और (५) अपने देश के धनवान आदमियों पर कर लगावें, तथा (६) उनसे अधिक मात्रा में एकमुश्त धन (चन्दा) भी लेवे।[3]

जिन राजाओं की प्रजा किसी भूमि में स्थायी रूप से नहीं बस गयी है, सम्भवतः उसी को लक्ष्य में रखकर कौटल्य आगे लिखता

---

[1] कौ० अ० ४।३

[2] श्री सत्यकेतु जी विद्यालङ्कार ने 'देश निक्षेप' का अर्थ देश की अमानत (सक्यूरिटी) पर उधार लेना, राष्ट्रीय ऋण लेना किया है।

[3] कौ० अ० ४।३

है कि 'राजा जिस देश में अन्न की खूब अधिकता हो, वहाँ पर ही उनपद सहित चला जाय, अथवा समुद्र के किनारे या बड़े बड़े तालाबों के किनारे जाकर बसे, जहाँ पर धान्य, शाक, मूल, फल आदि की खेती भी करवा सके, अथवा मृग, पशु, पक्षी, शिकारी जानवरों, तथा मछली आदि का शिकार करके निर्वाह करे।[1]

(च) चूहों से रक्षा—इस विषय में आचार्य लिखता है कि चूहों का भय होने पर बिल्ली और नेबलों को जगह-जगह छुड़वा देवे। उन्हें पकड़ने वालों को तथा उन लोगों को, जो दूसरों का नुकसान करने वाले अपने कुत्तों को न पकड़ें, दंड दिया जाय। थोर के दूध में धान्य को सानकर खेतों में बखेर दे। इसी प्रकार टिड्डी दल, पक्षी, कीड़ों आदि के उत्पातों का भी उपाय किया जाय।[2]

(छ) हिन्सक पशुओं से रक्षा—हिन्सक व्याघ्र आदि पशुओं का भय होने पर राजा मदन-रस (मेनफल के रस) में डुबाकर पशुओं की लाशों को जंगल में छुड़वा दे (ताकि उन्हें खाकर व्याघ्र आदि मर जाँय) अथवा धतूरा और जंगली कोदों को मिला कर लाशों के पेट में भर दिया जाय और उन्हें जंगल में छोड़ दिया जाय। शिकारी और बहेलिए जाल लेकर घूमते फिरें। सिपाही लोग कवच धारण कर हथियारों से सिंह आदि को मारें। व्याघ्र आदि से घिरे हुओं को जो न बचावे, उसे दंड दिया जाय। उन पशुओं को मारने वालों को इनाम दिया जाय। इस प्रकार अन्य जंगली पशु और पक्षियों के झुण्डों के आक्रमण से बचने के उपाय समझने चाहिएं।[3]

साँपों के बारे में आचार्य ने कहा है कि औषधियों (और मंत्रों) द्वारा विष-वैद्य उनका प्रतिकार करें। नगर निवासी भी

[1] कौ० अ० ४।३

[2] कौ० अ० ४।३

[3] कौ० अ० ४।३

जिस सांप को देखें, मिलकर मार दें। जलचर प्राणियों से होने वाले भयों का प्रतिकार भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

कौटल्य ने फ़सल को हानि पहुँचाने वाले तथा हिंसक पशु पक्षियों का दमन करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की पूजा और मंत्र-पाठ आदि का भी विधान किया है। उसका यहाँ वर्णन करना है। इस प्रकरण के अन्तिम भाग में दिया हुआ उसका यह वाक्य वास्तव में बहुत विचारणीय एवं अनुकरणीय है—'उपर्युक्त भयों से ग्रस्त हुए प्रजाजनों की सब जगह राजा इस प्रकार रक्षा करे, जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है।'[1]

अन्य कार्य—शिक्षा का कार्य, तत्कालीन वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार, राज्य से स्वतंत्र था। केवल उसकी देख-भाल एवं व्यय-प्रबन्ध का भार राज्य के जिम्मे था। स्वास्थ्य के लिए राज्यवैद्य आदि की व्यवस्था करता था। राज्य के अन्य कार्यों का अनुमान इस बात से हो सकता है कि वह खेती तथा व्यापार का भी कार्य करता था। उसे अपने विविध विभागों के लिए जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती थी, उन्हें वह यथा-सम्भव स्वयं ही तैयार कराता था, तथा सर्वसाधारण के उपयोग के लिए भी बहुत सी वस्तुएँ बनवाता था। अन्यत्र दिये हुए अध्यक्षों के नाम उसके कार्यों का क्षेत्र सूचित करते हैं। उदाहरणार्थ सूत्राध्यक्ष सूत तथा ऊन कतवाता, तथा कवच और रस्से आदि बनवाता था। वह निर्धन, असहाय विधवाओं आदि की आजीविकार्थ कार्य की योजना करता था, जो स्त्रियां अपने घर पर ही रहकर काम करना चाहतीं, उनसे, उनके घर पर ही रुई पहुँचा कर सूत कतवाया जाता था।[2] इस प्रकार राज्य में किसी के बेकार या भूखे रहने की समस्या उपस्थित ही नहीं हो सकती थी!

---

[1]कौ० अ० ४।३ [2]कौ० अ० २।२३

कौटल्य का राजा अपने सहायतापेक्षी नागरिकों के हित के लिए कितना कार्य करता है, यह अर्थशास्त्र के निम्नलिखित उद्धरण से भली भांति स्पष्ट हो जाता है—'बालक, बूढ़े, रोगी, दुखी, तथा अनाथ व्यक्तियों का, राजा सदा भरण-पोषण करे। 'अप्रजाता' (वंध्या) स्त्रियों की, तथा प्रजाता स्त्रियों के अनाथ पुत्रों की, राजा सदैव रक्षा करे।'[1] निस्सन्देह राजा को समस्त प्रजा का पुत्रवत पालन करना होता था; असमर्थ प्रजा की रक्षा तथा भरण-पोषण का उत्तरदायित्व स्वयं राजा पर रहता था।

कौटल्य ने राज्य-विस्तार को भी राज्य का आवश्यक कार्य बतलाया है। इस विषय पर अन्यत्र लिखा गया है।

---

[1] कौ० अ० २।१

चौथा अध्याय

राज्य के अंग

आजकक सारणतया राज्य के निम्नलिखित अंग माने जाते हैं—(१) जनता, (१) भूमि, (३) राजनैतिक संगठन, और (४) प्रभुत्व शक्ति। इनके अतिरिक्त कुछ लेखक (क) अवयवता (आरगेनिज्म') या जीवन, (ख) नीति या सदाचार, और (ग) पुरुषत्व (कठोरता या धैर्य आदि की भी राज्य के अंगों में गणना करते हैं, परन्तु दूसरे विद्वान इन्हें या तो परोक्ष समझते हैं, अथवा पूर्वोक्त में ही इनका समावेश समझ लेते हैं। हमें देखना है कि कौटल्य चार अंगों के अनुसार राज्य के अंग क्या-क्या हैं, और वह इनके विषय में क्या कहता है।

आचार्य लिखता है[1] कि 'राज्य की सात प्रकृतियां या अंग है:—(१) स्वामि या राजा. (२) अमात्य (३) जनपद अर्थात् जनता-युक्त भूमि (४) दुर्ग अर्थात् किले या नगर (जो दुर्गात्मक होते थे) (५) कोष, या खजाना, (६) दंड या सेना और (७) मित्र।' इनके सम्पत (गुणों) का उल्लेख करने के अनन्तर वह यह भी बतलाता है कि 'शत्रु सम्पत्' किसे कहते हैं, अर्थात् किन-किन लक्षणों वाले व्यक्ति को शत्रु (राजा) कहा जाना चाहिए। आगे कौटल्य कहता है कि शत्रु को छोड़कर (क्योंकि वह राजा होने से स्वामि प्रकृति के अन्दर आ जाता है) शेष सातों प्रकृतियाँ एक-दूसरे की सहायक

---

[1] कौ० अ० ६।१

होने से परस्पर अंगभूत हुई हुई और अपने-अपने कार्यों में लगी हुई 'राज सम्पत्ति' नाम से कही जाती हैं।[1]

(१) राजा—कौटल्य लिखता है कि 'संक्षेप में प्रकृतियों को राजा और राज्य इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।'[2] जैसा कि श्री० उदयवीर जी शास्त्री ने लिखा है, राजसिंहासन पर अभिषिक्त हुए स्वामी को ही राजा कहते हैं। इसलिए सात प्रकृतियों में से स्वामी और मित्र इन दोनों प्रकृतियों को 'राजा', तथा अमात्य आदि शेष पाँच प्रकृतियों को 'राज्य' (राष्ट्र) समझना चाहिए।

कई प्राचीन आचार्यों के मत से राज्य की प्रकृतियों में राजा का स्थान सब से कम महत्व का है। परन्तु कौटल्य को यह मान्य नहीं। वह तो राजा को प्रमुख स्थान देता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि प्राचीन छोटे-छोटे कुलतंत्र या गणतंत्र राज्यों में राज्य का आधार एक परिवार अथवा जनता होती थी, तथापि जैसी परिस्थिति में कौटल्य अपने ग्रंथ की रचना करता है, अर्थात् बड़े-बड़े साम्राज्यों के निर्माण की दशा में, राजा का महत्व राज्य के अन्य सब अंगों से बढ़ जाना स्वाभाविक ही है। उनका आधार ही विजिगीषु राजा होता है। यही कारण है कि कौटल्य ने इस बात का विस्तार-पूर्वक विवेचन किया है कि जब राजा बीमार हो, और उसकी मृत्यु की आशंका हो तो प्रधान मन्त्री को कैसी सावधानी और चतुराई से व्यवहार करना चाहिए, किस प्रकार जनता से राजा की मृत्यु का समाचार उस समय तक छिपाये रखे, जब

---

[1]कौ० अ० ६।१

[2]कौ० अ० ८।२ 'राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः।' श्री० यू० घुशाल एम० ए० ने इसका अर्थ यह लिया है कि राजा ही राज्य है, परन्तु प्रसंगानुसार तथा प्रकरण के अन्त में दी हुई पंक्तियों से यह अर्थ अशुद्ध सिद्ध होता है।

तक कि युवराज राज्य के कार्य को संभालने योग्य न हो जाय, जिससे राज्य के कर्मचारी तथा अन्य व्यक्ति कोई गड़बड़ न कर सकें।

अस्तु, राजा के सम्बन्ध में आचार्य के व्यौरेवार विचार आगे दिये जायँगे। यहाँ यही कहना अभीष्ट है कि कौटल्य के मत से यथेष्ट गुणों से युक्त राजा अन्य गुण रहित प्रकृतियों को भी गुण सम्पन्न बना लेता है, और समुचित गुणों से हीन राजा गुणवान तथा अनुरक्त प्रकृतियों को भी नष्ट कर देता है। इससे उसके स्थान की विशेषता स्पष्ट है।[1]

(२) अमात्य—कौटल्य के 'अमात्य' का अभिप्राय: साधारणतया राजकर्मचारी से है। अर्थशास्त्र में बताया गया है कि सब कार्यों का आरम्भ अमात्यों द्वारा ही होता है। जनपद के दुर्ग तथा कृषि आदि कार्यों की सिद्धि, राजकीय परिवार और अन्तपाल की ओर से योग क्षेम का साधन, आपत्तियों का प्रतिकार, निर्जन प्रदेशों का बसाना और उनकी वृद्धि करना, अपराधियों को दंड देना तथा राज कर का संग्रह करना इत्यादि सब कार्य अमात्यों ही के करने के हैं। उन पर विपत्ति आने पर जनपद सम्बन्धी ये कार्य नहीं किये जा सकते।[2]

कौटल्य ने अमात्यों के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों का मत उद्धृत किया है। भारद्वाज का मत है कि राजा अपने सहपाठियों में से उन्हें नियुक्त करे, जिससे उनके चरित्र और कार्य करने की शक्ति का अच्छी तरह ज्ञान होजाय। विशालाक्ष का मत है कि अमात्य राजा के समान स्वभाववाले और छिपे हुए आचरण के समान ही व्यवहार करनेवाले हों। पाराशर का मत है कि जो

---

[1] कौ० अ० ६।१
[2] कौ० अ० ८।१

पुरुष राजा को आपत्तियों से बचानेके लिए अपने प्राणों की बाजी लगा चुके हों, जिनकी राजभक्ति असंदिग्ध हो, उन्हें हीं अमात्य बनाया जाय। पिशुन का मत है कि जो व्यक्तिविविध राजकार्यों में सफल प्रबन्धक और बुद्धिमान सिद्ध होचुके हों, वे अमात्य करने योग्य हैं। कौणपदन्त का मत है कि अमात्य उन्हीं को बनाया जाय जिनके पिता, पितामह आदि इस पर कार्य करते चले आये हैं। बातव्याधि का मत है कि नीति-शास्त्र में निपुण नवीन पुरुष ही अमात्य नियुक्त किये जायँ। वाहुदन्ती-पुत्र (इन्द्र) का मत है कि ऐसे पुरुष अमात्य पदपर नियुक्त हों, जो कुलीन, बुद्धिमान, पवित्र हृदय, शूर औह स्वामी में अनुराग रखनेवाले हों। इन खब मतों का उल्लेख करने के उपारान्त आचार्य कौटल्य का वक्तव्य है कि 'यह सब ही ठीक है, क्योंकि पुरुष के सामर्थ्य की व्यवस्था उनमें किये कार्यों के सफल होने पर तथा उनके विद्या बुद्धि के बल पर ही की जाती है। इस लिए राजा पुरुषों को कार्य करने की शक्ति के अनुसार, उन के बुद्धि आदि गुण, देश काल तथा कार्यों को अच्छी तरह विवेचन करके, अमात्य पद पर नियुक्त करे, परन्तु इनको अपना मंत्री कदापि न बनाये।[1]

कौटल्य के कथन से स्पष्ट है कि उपर्युक्त व्यक्ति अमात्य तो बन सकते हैं, परन्तु मंत्रीं नही। मंत्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में उसने अलग विचार किया है। इस प्रकार अमात्य और मंत्री पृथक-पृथक पद हैं।

आचार्य ने अमात्यों का वेतन निर्धारित नही किया है, हाँ, उनकी वेतन-वृद्धि का उल्लेख अवश्य किया है।[2] उसने अमात्यों के विषय में मंत्री और पुरोहित से भी पहले चर्चा की है। जैसा आगे बताया जायगा अनेक पदाधिकारी एवं मंत्री इनमें से ही

---

[1] कौ० अ० १।८ [2] कौ० अ० ५।६

योग्यतानुसार चुने जाते थे।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि अमात्य वर्ग आज कल की सिविल सर्विस से कुछ मिलता हुआ था।

जनपद—कौटल्य के जनपद का यथेष्ट अभिप्राय समझने के लिए कुछ पूर्व इतिहास जान लेना अवश्यक हैं। श्री० जायसवाल जी ने लिखा है कि वैदिक काल के पश्चात् महाभारत से आरम्भ होकर, ई० पू० सातवीं शताब्दी तक भारतवर्ष के इतिहास में राष्ट्रीय राज्यों का अथवा स्वजातीय राज्यों का युग रहा। उदाहरणार्थ पंचाल और विदेह आदि में रहने वाली प्रजा के अपने स्वजातीय राजा थे। ऐक्ष्वाक जाति अपने ही राजा के अधीन थी। ई० पू० छठी शताब्दी से कुछ समय पहले से राष्ट्रों का जातीय आधार लुप्त होने लगा। स्वजातीय राज्यों के स्थान में विभिन्न जातियों के राज्यों की स्थापना होने लगी। बलवान जाति ने दूसरी जाति के राज्य को विजय करना आरम्भ कर दिया। एक राष्ट्र में अनेक विजातीय प्रजाओं का समावेश होने लगा। पुराना ऐक्ष्वाक जनपद काशी कोशल राज्य में परिणत होगया और मगध राज्य के अन्तर्गत पुराने मगध और अंग का समावेश होगया। इस क्रम की ५५० ई० पू० से ३०० ई० पू० तक बहुत तीव्र प्रगति रही।

विशाल राज्यों या साम्राज्य के युग में जाति या जन की अपेक्षा देश का महत्व अधिक होने लगा। राष्ट्र का आधार जाति न रही, उसका सम्बन्ध प्रजा के रहने की भूमि से होगया। जहाँ पहले एक राष्ट्र में एक ही जाति के आदमी बसते थे, अब उसमें भिन्न-भिन्न जातियों का समावेश होगया। 'जनपद' का अर्थ पहले एक जाति के बसने का स्थान था, गौण रूप से इसका प्रयोग जाति के लिए भी होता था; अब राज्य का स्वरूप बदलने पर यह देश के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, और यह उस में रहने वाली जातियों का सूचक न रहा।

[1] कौ० अ० १।१०

जनपद कैसा होना चाहिए, इस विषय में आचार्य लिखता है, 'मध्य में तथा सीमा में ऐसे स्थान हों जहाँ स्वदेश निवासी तथा परदेश से आने वालों के लिए पर्याप्त धान्य आदि पैदा हो सकें; पर्वत आदि के कारण जिसकी सरलता से रक्षा की जा सके; जहाँ थोड़े ही परिश्रम से धान्य आदि पैदा हो जायँ; जो राजा के शत्रुओं से वैर रखने वाले मनुष्यों से युक्त हो; जिसके आसपास के राजा दुर्बल हों, जो कीचड़ कंकर, ऊसर, विषम, चोर ज्वारी, छोटे-छोटे शत्रु, हिंसक जानवर, और घने जंगलों से रहित हो, नदी सर आदि के कारण रमणीय हों; खेती, खान, लकड़ियों तथा हाथियों से युक्त हो; गौओं के लिए हितकारी हो, पुरुषों के लिए जहाँ का जलवायु अच्छा हो; गाय भैंस आदि पशु जहाँ खूब हों, नदी नहरों से युक्त हो; जल-थल की बहुमूल्य तरह-तरह की क्रय वस्तुओं से युक्त हो; जो दंड और कर को सहन कर सके, जहाँ के किसान बड़े मेहनती हों; जहाँ के मालिक समझदार हों; जहां निम्न वर्ण के मनुष्य अधिक हों; जहां अनुरक्त और शुद्ध हृदय के पुरुष हों—ऐसा जनपद चाहिए।'[1]

आज-कल राज्य के सम्बन्ध में भूमि का विचार करते हुए उसकी जलवायु, विस्तार, और प्राकृतिक गुण का विचार किया जाता है। अर्थशास्त्र के उपर्युक्त उदाहरण में भी इन सब का सम्यक् समावेश है। इससे प्रतीत होता है कि कौटल्य आधुनिक राजनीतिज्ञों से इस विषय में कुछ पीछे नहीं है।

(४) दुर्ग—प्राचीन काल में राज्य की बाहरी तथा भीतरी रक्षा के लिए सेना और गुप्तचरों के अतिरिक्त दुर्ग बहुत उपयोगी होते थे। स्थान-स्थान पर नगरों का स्वरूप ही दुर्गात्मक होता था। इनके सम्बन्ध में कौटल्य लिखता है कि (राजा) चारों दिशाओं में,

---

[1] कौ० अ० ६।१

जनपद के सीमा स्थानों में, युद्ध के लिए उपयोगी, स्वाभाविक विकट स्थानों को ही दुर्ग के रूप में बनवा लेवे। दुर्ग मुख्यतया चार तरह के होते हैं, और इनमें से प्रत्येक के दो दो भेद है :— नदियों से घिरा हुआ, बीच में टापू के समान, अथवा बड़े बड़े गहरे तालाबों से घिरा हुआ मध्य का स्थल प्रदेश 'औदुक' दुर्ग कहाता है। बड़े-बड़े पत्थरों से घिरा हुआ, अथवा गुफाओं के रूप में बना हुआ दुर्ग 'पार्वत' दुर्ग होता है। जल तथा घास आदि से रहित अथवा सर्वथा ऊसर भूमि में बना हुआ दुर्ग 'धान्वन' दुर्ग कहलाता है। चारों ओर दलदल से घिरा हुआ, अथवा कांटेदार घनी झाड़ियों से घिरा हुआ दुर्ग 'बन' दुर्ग कहा जाता है।'[1]

(५) कोश—राज्य सम्बन्धी विविध कार्यों के लिए विपुल राजकोष होना अनिवार्य है। आचार्य ने लिखा है कि सम्पूर्ण कार्यों का आधार कोष है, इसलिए राजा को उचित है कि सब से प्रथम कोष के विषय में विचार करे।[2] कोष कैसा होना चाहिए, इन में वह कहता है, 'पहले राजाओं के द्वारा या स्वयं धर्मपूर्वक संचित किया हुआ धान्य का षड्भाग आदि, अत्यधिक सुवर्ण तथा रजत से युक्त, बहुमूल्य बड़े-बड़े और नाना प्रकार के रत्नों और हिरण्यों से भरा हुआ, जो चिरकाल तक रहनेवाली दुर्भिक्ष आदि आपत्ति और धन-व्यय को सहन कर सके, ऐसा कोष होना चाहिए।[3]

(६) दंड अर्थात् सेना—राज्य की रक्षा के लिए सेना का महत्व स्पष्ट है। इसके गुणों के विषय में आचार्य ने लिखा है कि 'पितृ पितामह के समय से आया हुआ (स्थिरता से सेवा करनेवाला), वश में रहनेवाला, जिसके पुत्र और स्त्री राजा की ओर से भरण-पोषण होने के कारण संतुष्ट हों, चढ़ाई के समय में भी आवश्यक वस्तुओं से युक्त, कहीं हार न खानेवाला, दुख सहनेवाला, युद्ध

[1] कौ० अ० २।३ [2] कौ० अ० २।८ [3] कौ० अ० ६।१

की रीतियों में तथा अस्त्र शस्त्रों के उपयोग में कुशल, राजा के अनुकूल, अपने हानि-लाभ से उदासीन, जिसमें क्षत्रिय ही अधिक हों, ऐसा सैन्य होना चाहिए।[1] सेना के सम्बन्ध में विशेष विचार आगे एक स्वतंत्र अध्याय में किया गया है।

(७) मित्र—राज्य को अपने मित्रों का कैसा सहारा होता है, शन्ति-काल में अपनी उन्नति करने, तथा आपत्ति काल में अपनी रक्षा करने के लिए प्रत्येक को अपने मित्रों से कितनी सहायता मिलती है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। मित्र में क्या गुण होने चाहिएँ, इस विषय में आचार्य का कथन है कि 'पितृ पितामह क्रम से आये हुए, जो बनावटी न हों, अपने वश में रहें, जिनके साथ कभी भेद न हो, अवसर आने पर झट सहायता करने के लिए तैयार हो जाय, इस प्रकार के मित्र होने चाहिएँ।[2]

पारस्परिक तुलना—उक्त सात प्रकृतियों के महत्व की पारस्परिक तुलना आचार्य के निम्नलिखित से हो जाती है:—"स्वामी (राजा) अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, सेना और मित्र इन पर विपत्ति आने पर अगले की अपेक्षा पहले पर विपत्ति का आना अधिक कष्टकर है। उदाहरणवत् राजा और अमात्य इन दोनों पर आपत्ति आने पर राजा की आपत्ति अधिक भयावह है, इसी तरह आगे भी समझ लेना चाहिए।"[3]

कौटल्य ने इस विषय में अपने से भिन्न विचार रखनेवाले प्राचीन आचार्यों के मत का उल्लेख करते हुए, बड़ी युक्ति से उसका खण्डन किया है; विस्तार-भय से वह सब वादविवाद यहाँ उद्धृत नहीं किया जा सकता। संक्षेप में उसका उतना ही

---

[1] कौ० अ० ६।१ [2] कौ० अ० ६।१

[3] कौ० अ ८।१

अंश देना अभीष्ट है, जिसमें आचार्य ने अपने मत की पुष्टि की है।

राजा और अमात्य—मंत्री और पुरोहित आदि भृत्य वर्ग तथा अन्य सम्पूर्ण विभागों के अध्यक्षों के कार्यक्रम को, और पुरुष प्रकृति अर्थात् अमात्य तथा सेना पर आई हुई विपत्ति एवं द्रव्य प्रकृति अर्थात् जनपद, कोष और दुर्ग आदि पर आई हुई विपत्तियों के प्रतिकार को, और उनकी उन्नति को राजा ही स्वयं कर सकता है। अमात्यों पर यदि आपत्ति आ पड़ी है अर्थात् वे व्यसनी हो गये हैं तो उनके स्थान पर दूसरे अव्यसनी अमात्यों को राजा नियुक्त कर सकता है और राजा ही पूज्य व्यक्तियों के सत्कार तथा दुष्ट व्यक्तियों के निग्रह में सदा तत्पर रहता है। राजा राज-सम्पत्ति अर्थात् राजयोग्य गुणों से युक्त होने पर, अमात्य आदि प्रकृतियों को भी गुण-सम्पन्न बना सकता है। जैसा स्वयं राजा का स्वभाव होता है, प्रकृतियाँ भी उसी स्वभाव की बन जाती हैं तथा अमात्य आदि प्रकृतियों का अभ्युदय और अधःपात राजा के ही अधीन होता है, क्योंकि उनमें राजा सब का कूटस्थानीय अर्थात् प्रधान कारण होता है।

जनपद और दुर्ग—दुर्ग, कोष, सेतुबंध और कृषि आदि सब कार्य जनपद के ऊपर ही निर्भर हैं, तथा शूरता, स्थिरता, चतुरता और संख्या की अधिकता भी जानपदो (जनपद निवासी पुरुषों) में ही हो सकती है। जनपद के न रहने की दशा में पर्वतों, नदी और जलाशयों आदि के भीतर बने हुए अत्यन्त दृढ़ दुर्ग भी सूने पड़े रहते हैं। हाँ, जैसे जनपद रहित दुर्ग सूना पड़ा रहता है, ऐसे ही दुर्ग रहित जनपद में भी निवास होना दुष्कर ही है। इस लिए कृषि-प्रधान प्रदेश में दुर्ग पर आपत्ति आना अधिक भयावह है, और आयुध-प्रधान प्रदेश में जनपद पर विपत्ति आना अधिक

भयावह है, क्योंकि ऐसे प्रदेश में दुर्ग की विपत्ति का तो योद्धाजन अच्छी तरह प्रतिकार कर सकते हैं।

दुर्ग और कोष—कोष और सेना दोनों की रक्षा दुर्ग के द्वारा ही हो सकती है। तूष्णी युद्ध अर्थात् गूढ़ पुरुष आदि के द्वारा चुपचाप किसी का बध कराना, अपने पक्ष के दूष्य (राजद्रोही) पुरुषों का निग्रह करना, सैनिक शक्ति की व्यवस्था, मित्र सेना को आश्रय देना और शत्रु-समूह तथा आटविकों का निराकरण करना ये सब बातें दुर्ग के द्वारा ही की जा सकती हैं। दुर्ग का नाश हो जाने पर यह भी सम्भव है कि हमारे कोष को शत्रु छीन कर ले जावें। और यह देखा जाता है कि जिन के पास अत्यन्त दृढ़ दुर्ग हैं, (परन्तु भारी कोष नहीं है) उनका उच्छेद नहीं किया जा सकता।

कोष और सेना—सेना की स्थिति कोष पर ही निर्भर है। कोष के न होने पर सेना या तो शत्रु के अधीन हो जाती है, या अपने स्वामी का ही बध कर डालती है। सब सामन्तों के साथ स्वामी का विरोध भी सेना करा सकती है, क्योंकि धन के देने पर सब ही वश में कर लिये जाते हैं। धर्म और काम की प्राप्ति भी कोष के द्वारा हो सकती है। किन्तु इनमें इतना विशेष समझना चाहिए कि देश काल तथा कार्य के अनुसार कोष और सेना इन दोनों में से किसी भी एक को प्रधान माना जा सकता है। हाँ, सेना केवल कोष की ही रक्षा कर सकती हैं, परन्तु कोष, सेना और कोष दोनों की रक्षा कर सकता है। इसलिए सब द्रव्य प्रकृतियों (दुर्ग आदि) के निर्वाह का हेतु होने के कारण, कोष पर आई हुई विपत्ति अधिक कष्टकर होती है।

सेना और मित्र—जिसके पास सेना की अच्छी शक्ति होती है, उसके मित्र तो मित्र बने ही रहते हैं, शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। सेना और मित्र में, साधारणतया लाभ के अनुसार अपने युद्ध

देश और काल के विचार से, विशेषता समझनी चाहिए। कहीं शीघ्र आक्रमण करने पर अथवा शत्रु और आटविकों के द्वारा अभ्यंतर कोष (राजा के अपने देश या अमात्य आदि प्रकृतियों में परस्पर के कोष) के उत्पन्न करा देने पर, इसका प्रतिकार करने के लिए मित्र का कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता (ऐसे अवसरों पर, सेना ही काम देती है)। एक साथ आपत्ति आजाने पर अथवा शत्रु के बढ़ जाने पर मित्र ही अर्थ-सिद्धि में सहायक होता है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से राज्य की इन प्रकृतियों का महत्व भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। जैसा पहले कहा गया है, आजकल राज्य के अंग इस रीति से नहीं माने जाते, तथापि आचार्य के विचार जानने के लिए उक्त विवेचन उपयोगी होगा।

सप्तांग सिद्धान्त की आलोचना; राजा की प्रधानता—कौटल्य ने राज्य की सात प्रकृतियाँ मानी हैं, अर्थात् वह राज्य को एक ऐसा अवयव या शरीर मानता है, जिसके सात अंग हो। आचार्य के इस सिद्धान्त को 'सप्तांग सिद्धान्त' कहा जाता है। इसकी आलोचना में यह कहा जा सकता है कि इसमें राजा को अत्यन्त महत्व प्रदान किया गया है, तथा राज्य के सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग अर्थात् जनता को भुला दिया गया है। इस विषय में, श्री० ए० के० सेन ने लिखा है[1] कि यदि सप्तांग में जनता को भी स्थान दिया जाता तो राज्य रूपी शरीर में दो प्रतिद्वन्द्वी मस्तिष्क या संचालक (Directing organs) हो जाते। इससे शरीर की रचना अस्वाभाविक, कृत्रिम या याँत्रिक हो जाती। कौटल्य ने सप्तांग में जनता को स्थान न देकर राजा को एकमात्र संचालक बनाने का रास्ता साफ रखा है। हाँ, उसने राजा को यथेष्ट गुणसम्पन्न तथा आवश्यक प्रतिबन्ध युक्त बनाया है। इस विषय में विशेष आगे कहा जायगा।

---

[1] Studies in Hindu Political Thought.

राजा को बहुत अधिक महत्व दिये जाने का और भी कारण है कौटल्य का मत है कि लोकयात्रा अर्थात् संसार का निर्वाह या उन्नति दंड नीति पर ही निर्भर है।[1] पुनः कौटल्य समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था को मानकर चलता है। प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम के कर्तव्य चिरकाल से निर्धारित हैं। कौटल्य उनका उल्लेख करता है और कहता है कि राजा को चाहिए कि वह प्रजा को अपने कर्तव्यों से भ्रष्ट न होने दे, वह उनकी मर्यादा के अनुसार व्यवस्था करे।[2] इस प्रकार कौटल्य के विचार से राजा को ही प्रधान स्थान मिलना युक्तिसंगत है क्योंकि राजा द्वारा दिये जाने वाले दण्ड के भय से ही प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वधर्म या कर्तव्य पालन करने को प्रेरित तथा बाध्य होता है। दंड और दंडधर (राजा) के बिना मेरे तेरे का, या कर्तव्य और अधिकारों का समुचित विचार नहीं होता।

राजा को प्रधानता दी जाने की बात का एक और प्रकार से भी विचार किया जा सकता है। कौटल्य ने अपना ग्रन्थ एक शासक के दृष्टिकोण से लिखा है, शासितों के दृष्टिकोण से नहीं। वह राज्यों के सिद्धान्तों, शासकों और शासितों के पारस्परिक सम्बन्धों, कर्तव्य और अधिकारों का विवेचन नहीं करता। उसका मुख्य विषय यह है कि शासन-यंत्र किस प्रकार संचालित हो, शासन-शक्ति कैसे प्रयुक्त की जाय, एक महान साम्राज्य का निर्माण किस तरह हो। कौटल्य चन्द्रगुप्त का प्रधान मंत्री है। वह राजा के लिए एक व्यवहारिक राजनीति का ग्रन्थ प्रस्तुत करना चाहता है, और वह राजा भी ऐसा है जो चहुँओर मित्र तथा शत्रु राज्यों से घिरा हुआ है, और कौटल्य उसे सर्वशक्ति-सम्पन्न, और प्रभुता-प्राप्त बनाना चाहता है।

[1] कौ० अ० १।४

[1]कौ० अ० १।३

राज्य के अंगों में पुरोहित का अभाव—अन्यत्र बताया जा चुका है कि पहले, राज्य के उच्च पदाधिकारियों में पुरोहित का प्रधान स्थान था, यहाँ तक कि अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि अवस्था विशेष में प्रधानमंत्री और पुरोहित का पद संयुक्त कर दिया जाता था। तथापि कौटल्य ने उसकी राज्य के अंगों में गणना नहीं की। पुनः आचार्य ने राजा की तीन शक्तियों में भी पुरोहित का समावेश नहीं किया।[1] इससे स्पष्ट है कि वह राज्य को दैवात्मक राज्य का स्वरूप प्रदान करना नहीं चाहता था। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कौटल्य ने राजा को धर्म का रक्षक मात्र माना है; भूत-पूर्व टर्की के खलीफा की तरह धर्म-निर्माता नहीं। पुनः राज्य का मुख्य कार्य ऐहलौकिक बताया गया है, पारलौकिक धर्म सम्बन्धी नहीं। इसके अतिरिक्त राज्य के विविध प्रजाजनों को जो सुविधाएँ सहायता दी जाने का निर्देश किया गया है, वह प्रायः उनके साम्प्रदायिक भेदों के आधार पर नहीं, नागरिक आवश्यकताओं या सामाजिक परिस्थिति के कारण किया गया है। हम राज्य के अंगों में पुरोहित के अभाव का इन सब बातों के साथ विचार करते हैं तो हमें इसका यथेष्ट महत्व मालूम हो जाता है।

---

[1] कौ० अ० ६।२; कौटल्य के अनुसार राजा की शक्ति तीन प्रकार की होती है:—(१) मंत्र शक्ति अर्थात् ज्ञान बल; (२) प्रभु शक्ति अर्थात् कोष और दंड (सेना) बल और (३) उत्साह शक्ति अर्थात विक्रम बल।

पांचवां अध्याय

राजा

प्राक्कथन—आज कल बहुत से आदमियों को 'राजा' शब्द बड़ा अप्रिय मालूम होने लगा है। उन्हें इस शब्द के साथ ही अनियंत्रित और स्वेच्छाचारी सत्ता तथा विविध प्रकार के अत्याचारों की कल्पना हो जाती है। इसका कारण यह है कि संसार के दुर्भाग्य से कितने ही राजाओं ने अपने व्यवहार से लोगों की उक्त प्रकार की धारणा बनने में सहायता दी है। तथापि स्मरण रहे कि वास्तव में 'राजा' शब्द बहुत कल्याणसूचक है। भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में महाभारत रघुवंश, उत्तर रामचरित आदि में बारम्बार यह घोषणा की गयी है कि राजा वह व्यक्ति है जो प्रजा का रंजन करे, अर्थात् उसके सुख, शान्ति और समृद्धि की व्यवस्था करे।

प्राय: अनुभव में आता है कि काम, क्रोध आदि विकारों में ग्रस्त व्यक्ति सदैव दु:खी रहता है, और यदि वह संयोग से कुछ सत्ताधारी हो, तो वह औरों के भी दुख का कारण होता है। इस लिए हमारे प्राचीन नीतिकारों ने राजा की शक्ति को नियंत्रित करने तथा उसे सदाचार सम्पन्न होने का उपदेश दिया है। उन्हीं का अनुकरण करते हुए राजनीतिज्ञ कौटल्य राज्य के प्रधान सूत्रधार को केवल 'राजा' के रूप में नहीं देखता उसका आदर्श तो उसे 'राजर्षि' (King Philosopher) ही बनाना है।[1] इसके लिए

---

[1] कौ० अ० १।७

आचार्य कैसे-कैसे नियमों का निर्माण करता है, यह आगे बताया जायगा। पहले एक और प्रश्न पर विचार करलें।

क्या राजा दैवी अधिकार सम्पन्न है ?—अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के तेरहवें अध्याय में कहा गया है, कि 'राजा लोग प्रत्यक्ष ही प्रजा का विनाश और कल्याण करते हैं, अतः इनका स्थान यम और इन्द्र के समान है। जो उनका तिरस्कार करता है उस पर दैवी विपत्ति भी अवश्य आती है। इसलिए उनका कभी अपमान नहीं करना चाहिए।' इस प्रकार आचार्य ने एक राजा के दैवी अधिकार, सम्पन्न होने के सिद्धान्त का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार राजा साक्षात ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। योरप की भांति, भारतवर्ष में यह सिद्धान्त कुछ लोगों में अति प्राचीन काल में ही नहीं, अब तक रहा है, और इस समय भी है। 'दिल्लीश्वरो जगदीश्वरो वा' उक्ति इसी सिद्धान्त की सूचक है। तथापि अर्थशास्त्र के आधार पर यह कहना तर्कसंगत न होगा कि कौटल्य को यह सिद्धान्त मान्य था। आचार्य ने जिस प्रसंग में उपर्युक्त बात कही है, वह राजा सम्बन्धी सिद्धान्तों के विवेचन का नहीं है। उसने दूसरे ही प्रसंग में गुप्तचरों के वर्तालाप में, उपर्युक्त वाक्य का समावेश किया है। यदि आचार्य को स्वयं अपना मत देना अभीष्ट होता तो वह अर्थशास्त्र के उन अध्यायों में भली भाँति दे सकता था, जो एकमात्र अथवा प्रधानतया राजसम्बन्धी हैं। हमें इन्द्र और यम की समता से भ्रम में नहीं पढ़ना चाहिए, यह केवल उपमा ही है; इससे केवल यह साबित होता है कि राजा के कार्य इन्द्र और यम के कार्यों के समान है अर्थात् उनकी इनसे तुलना की जा सकती है। और, प्रजा को राजा से भय मानना एवं उस में श्रद्धा रखनी चाहिए।

हिन्दू शास्त्रकारों ने यह अवश्य कहा है कि ब्रह्मा ने दंडनीति की स्थापना की अथवा राजा को बनाया। परन्तु इस का आशय केवल

यह लेना चाहिए कि दंडनीति तथा राजा की व्यवस्था हिन्दू अति प्राचीन काल से, सृष्टि के प्रारम्भिक काल से, मानते हैं। हिन्दू शास्त्रकार राजा को दैवी विभूति सम्पन्न मानते हैं, परन्तु चाहे जिस व्यक्ति को, राज्याधिकार पाने मात्र से, उनके मतानुसार, ऐसा नहीं माना जा सकता। केवल धर्मानुकूल शासन करनेवाला धर्मात्मा राजा ही दैवी विभूति सम्पन्न है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में यह विस्तार पूर्वक बताया गया है कि कैसे गुणोंवाला व्यक्ति वास्तव में राजा कहे जाने योग्य है। इस सम्बन्ध में आचार्य कौटल्य के विचार आगे दिये जायँगे। स्मरण रहे कि वह साधारण व्यक्तियों की भांति राजा को भी गलती कर सकनेवाला मानता हैं। इस लिए उसने उसके गलती करने पर उस के लिए विविध प्रकार के दंडों की व्यवस्था की है। इससे स्पष्ट है कि वह राजा को दैवी अधिकारयुक्त माननेवाला कदापि नहीं है।

राजा भी गलती कर सकता है—राजतंत्रवाले राज्यों में प्रायः यह माना जाता है कि राजा कोई गलती नहीं कर सकता; लोगों में यह कहावत प्रचलित हो गयी है कि 'राजा करे सो न्याय' अथवा "राजा की इच्छा ही कानून है।' वैध राज तंत्रों में भी राजा के गलती न कर सकने के सिद्धान्त को माना जाता है परन्तु वहाँ ऐसी व्यवस्था की जाती है कि वह किसी कार्य का उत्तरदायी नहीं होता, सब कार्यों के उत्तरदाता मंत्री होते हैं; आचार्य कौटल्य को यह भी मान्य नहीं है कि राजा नितान्त अनुत्तरदायी अथवा केवल मंत्रियों की सम्मति या अनुमति से कार्य करनेवाला रहे। वह राजा के लिए न्यायादि सम्बन्धी सर्वोच्च कार्य निधारित करता है और उस के गलती करने पर दोषी भी ठहराता है। उदाहरणार्थ वह लिखता है कि 'निर्दोष व्यक्ति को दंड देने पर राजा को उस दंड से तीस गुना दंड दिया जाय, और वह दंड का धन, जल में

खड़े होकर वरुण देवता के नाम से ब्राह्मणों को दे दिया जाय। ऐसा करने से ठीक दंड न देने के कारण उत्पन्न हुआ राजा का पाप शुद्ध हो जाता है।'[1]

कौटल्य ने अयोग्य राजा को गद्दी से उतारने और उस की जगह दूसरा बैठाने तथा अधर्मी और प्रजा का तिरस्कार करनेवाले राजा के मारे जाने की भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष सूचना दी है[2]

राजा के गुण—आचार्य ने राजा के आवश्यक गुणों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। उसके अनुसार राजा को महाकुलीन, धार्मिक, शास्त्र मर्यादा को चाहनेवाला, कृतज्ञ, दृढ़ निश्चयी, विचारशील, दुष्ट पक्ष को त्यागदेनेवाला, निर्भीक भाषण करने में समर्थ, संयमी, शत्रु की विपत्ति में चढ़ाई करनेवाला, धान्य आदि का ठीक-ठीक विनियोग करनेवाला, दूरदर्शी, उत्साही, संधि के प्रयोग को समझनेवाला, युद्ध करने में चतुर, सुपात्र में दान देनेवाला, प्रजा को कष्ट न पहुंचाते हुए कोष को बढ़ानेवाला, काम, क्रोध लोभ, मोह, चपलता और चुगलखोरी से अलग रहनेवाला,, प्रिय बोलनेवाला, वृद्धों के उद्देश तथा आचार का माननेवाला होना चाहिए।[3] आचार्य के बतलाये हुए राजा के गुणों में नैतिक गुण विशेष महत्व के हैं। कुछ गुण तो स्वभाव से होते है और कुछ अभ्यास या शिक्षा से प्राप्त होते हैं। जहाँ तक अभ्यास या शिक्षा का सम्बन्ध है, आचार्य ने उक्त गुणों की प्राप्ति कराने के प्रयत्न में कोई कसर उठा नहीं रखी।

---

[1] कौ० अ० ४।१३

[2] इस पुस्तक का अन्तिम अध्याय देखिए।

[3] कौ० अ० ६।१

गुणों की प्राप्ति; राजपुत्र का शिक्षण—आचार्य ने राजकुमार की शिक्षा का महत्व इन शब्दों में प्रकट किया है—'जिस प्रकार घुण (एक प्रकार का कीड़ा जो लकड़ी को भीतर से खाकर उसे निस्सत्व कर देता है) लगी हुई लड़की शीघ्र नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिस राजकुल के राजकुमार शिक्षित नहीं बनाये जाते, वह राजकुल बिना किसी युद्ध आदि के ही स्वयं नष्ट हो जाता है।'[1] इस बात को भली भाँति ध्यान में रखते हुए कौटल्य ने युवराज की सुशिक्षा पर बहुत बल दिया है। वह लिखता है कि 'सुशिक्षा से शिक्षित राजा सम्पूर्ण प्राणियों के हित में लगा हुआ तथा प्रजाओं के रक्षण में तत्पर रहता हुआ चिरकाल तक निष्कंटक पृथ्वी का उपभोग करता है।'[2] अत: आचार्य आरम्भ से ही इसकी यथेष्ट व्यवस्था करता है। उसने लिखा है कि (राजपुत्र को) भिन्न-भिन्न विद्याएँ उनके योग्य आचार्यों से प्राप्त करनी चाहिएँ, और उनके नियमों का पालन करना चाहिए। मुंडन संस्कार के बाद अक्षरा-भ्यास तथा गिनने आदि का विधिपूर्वक अभ्यास करे। उपनयन के अनन्तर सदाचारी विद्वान् आचार्यों से त्रयी और आन्वीक्षकी को, भिन्न-भिन्न विभागों के, अध्यक्षों से वार्ता को, सिद्धान्त और व्यवहार जाननेवालों से दंड नीति को सीखे।[3]

आगे कौटल्य लिखता है कि 'सोलह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का यथावत पालन करे। इसके अनन्तर गोदान विधिपूर्वक विवाह करे। पश्चात् वह अपने 'विनय' (शास्त्र ज्ञान) की वृद्धि के लिए सदैव विद्यावृद्ध पुरुषों का सहवास किया करे; अनुभवी विद्वान् पुरुषों की संगति ही विनय का मूल है।' यह बात ध्यान देने की है कि शिक्षा-प्राप्ति में आचार्य संगति के प्रभाव का कितना महत्व मानता है। वास्तव में किसी मनुष्य का जीवन अच्छा या बुरा होने में संगति का बड़ा भाग होता है।

[1]कौ० अ० १।१७ [2]कौ० अ० १।५ [3]कौ० अ० १।५

विशेषतया छोटी उम्र में जो संस्कार पड़ जाते हैं, वे तो प्रायः अमिट ही होते हैं। इस लिए आचार्य ऐसी व्यवस्था करता है कि राजपुत्र में उसके जन्म से ही, नहीं, उस से भी पहले से अच्छे संस्कार पड़ें। वह लिखता है कि 'राजा को यह अवश्यक है कि वह इसका प्रबन्ध करदे कि जब महारानी ऋतुमती होवे, तब ऋत्विक् इन्द्र और बृहस्पति देवता के उद्देश से चरु को सिद्ध करें, (इन्द्र को ऐश्वर्य के लिए और बृहस्पति को विद्या बुद्धि के लिए हवि का देना कहा गया है)। जब महारानी गर्भवती होजावे तो शिशु-चिकित्सक गर्भ के पुष्ट करने और सुखपूर्वक प्रसव होने के लिए पूर्ण प्रयत्न करे। महारानी के प्रसूता होजाने पर अर्थात् पुत्र उत्पन्न होजाने पर विद्वान पुरोहित पुत्र का यथोचित् संस्कार करे। तदनंतर राजकुमारके समर्थ होजाने पर उन-उन विषयों के विद्वान उसको भिन्न-भिन्न प्रकार की उचित शिक्षा देवें।'[1]

राजपुत्र की दिनचर्या—सुशिक्षा की प्राप्ति के लिए दिनचर्या का ठीक-ठीक होना बहुत आवश्यक है। अतः कौटल्य ने इसी प्रसंगा में उसका भी विवेचन किया है। वह लिखता है कि (राजपुत्र) दिन के पहिले भाग को हाथी, घोड़े, रथ और अस्त्र-शस्त्र आदि विद्या सम्बन्धी शिक्षाओं में व्यतीत करे। दिन के पिछले भाग को इतिहास (पुराण, आख्यायिका, प्राचीन वृत्तान्त, धर्मशास्त्र, अर्थ-शास्त्र) आदि सुनने में व्यतीत करे। दिन और रात के शेष भागों को नवीन ज्ञान के ग्रहण और गृहीत ज्ञान के मनन या चिन्तन में व्यय करे।'[2]

आज-कल बहुत से राजकुमारों की दिनचर्या इस तरह की रहती है, मानों उन्हें या उनके अभिभावकों को उनके भावी उत्तरदायित्व का किंचित भी विचार नहीं है। कौटल्य इस विषय

---

[1] कौ० अ० १।१७   [2] कौ० अ० १।१५

में यथेष्ठ सतर्क है, उसके विचारों से बहुत लाभ उठाया जा सकता है।

इन्द्रिय दमन—सुशिक्षा प्राप्त व्यक्ति प्राय: अपनी इन्द्रियों को वश में रखनेवाले होते हैं। तथापि आचार्य को यह आशंका है कि राजकीय ऐश्वर्य में पले हुए, विशाल धन सम्पत्ति का अपने आप को अधिकारी माननेवाला राजा कहीं स्वेच्छाचारी अथवा दुराचारी न होजाय, अथवा इन्द्रियों का दास होकर अपना एवं प्रजा का हितघातक न बन जाय। इस लिए वह इस विषय में आदेश करता है। कि काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, और हर्ष के त्याग से इन्द्रयों का जय करे; इन्द्रियों का जय ही विद्या और विनय का हेतु है।' इन्द्रिय जय का स्पष्टीकरण भी उसने कर दिया है, 'कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना, और घ्राण इन्द्रियों को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, विषयों में प्रवृत्त न होने देना इन्द्रिय जय कहाता है। शास्त्रों में प्रतिपादित कर्तव्यों का अनुष्ठान भी इन्द्रिय जय है, क्योंकि सम्पूर्ण अर्थशास्त्र का आधार भी इन्द्रिय जय ही है। आचार्य ने अनेक राजाओं के चरित्रों के उदाहरण देकर यह समझाया है कि शास्त्र विहित कर्तव्यों के विरुद्ध आचरण करनेवाला, इन्द्रिय-परायण राजा, सम्पूर्ण पृथ्वी का अधिपति होता हुआ भी शीघ्र ही नष्ट होजाता है। और, इस शत्रु षड्वर्ग को छोड़कर जितेन्द्रिय राजा चिरकाल तक इस पृथ्वी का निष्कंटक उपभोग करता है।[1]

कौटल्य को मनुष्य-स्वभाव का अच्छा परिचय है, वह मानवी निर्बलताओं को खूब समझता है, और उनके लिए समुचित व्यवस्था करने के लिए यथेष्ठ रूप से सतर्क है। प्राय: राजकुमार के स्त्री, मद्य, द्यूत और शिकार में फँसने की संभावना होती है;

---

[1] कौ० अ० १।६

अतः उसको इनसे विरक्त करने के लिए आचार्य लिखता है कि यदि राजकुमार यौवन मद से पर-स्त्रियों में अपने मन को ले जाता है तो राजा या उसके रक्षकों को चाहिए कि वे सदा अपवित्र रहनेवाली आर्या (श्रेष्ठ स्त्री) के समान वेष बनाये हुई स्त्रियों के द्वारा, रात्रि के समय एकान्त स्थान में उसे उद्विग्न करावें ; यदि वह मद्यादि पीने की कामना करे, तो उसे मद्य में कोई विरस (जिसका रस बहुत खराब, चित्त को उद्विग्न करनेवाला हो, ऐसी) वस्तु मिलाकर पिलावें। यदि वह जुआ खेलने की कामना करता हो, तो उसे कापटिक अर्थात् छल-पूर्वक जुआ खेलने में अत्यन्त चतुर पुरुषों के साथ जुआ खिलवाकर खूब उद्विग्न करें। यदि वह मृगया अर्थात् शिकार की कामना रखता हो तो उसे चोरों का वेष धारण किये हुए पुरुषों के द्वारा अच्छी तरह खिन्न करे।[1] इन योजनाओं को देखकर आचार्य की कुशाग्र बुद्धि और मनोविज्ञान की अत्यन्त सराहना करनी पड़ती है।

राज्याभिषेक और राजसम्वत्—हिन्दू प्रजातंत्र में राज्याभिषेक संस्कार चिरकाल से बड़े महत्व का माना जाता रहा है। कौटल्य ने इस संस्कार का उल्लेख कई स्थानों पर किया है। उसने आदेश किया है कि यथेष्ट गुण-सम्पन्न राजपुत्र को ही राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया जाय।[2]

प्राचीन शास्त्रकारों ने यह विधान किया है कि यदि कभी संयोग से ऐसा हो कि एक राजा की मृत्यु के बाद दूसरे शासक का राज्याभिषेक जल्दी ही न हो जाय, तो राज्याभिषेक होने तक के समय को शासनकाल न माना जाय। अर्थात् कानूनी वर्ष राज्याभिषेक के समय से माना जाय। कौटल्य ने लिखा है कि 'राजा के राज्याभिषेक समय से लगाकर वर्ष, मास, पक्ष, और

[1] कौ० अ० १।१७ [2] कौ० अ० ५।६

दिन इन चारों का 'व्युष्ट' कहते हैं।' इसका तात्पर्य, जैसा कि श्री० उदयवीर जी शास्त्री ने बतलाया है, यही है कि उस राजा के समय में जो भी कार्य हों, उनके लेखन आदि में इन चारों का निर्देश किया जाय, जैसे अमुक राजवर्ष के अमुक मास, अमुक पक्ष, और अमुक दिन में उस पुरुष ने इतना धन तथा अन्य कोई पदार्थ दिया, इत्यादि। इस पद्धति का आज-कल भी पालन किया जाता है।

राजा का व्यवहार—जितेन्द्रिय व्यक्ति ही अपने कार्यों का भली भाँति सम्पादन कर सकता है, इसलिए कौटल्य ने राजा के कार्यों का विवेचन करते समय पहिले इन्द्रिय-जय विषय पर लिखा है। आगे वह बतलाता है कि '(राजा) वृद्ध विद्वानों के सहवास से बुद्धि को विकसित करे, गुप्तचरों के द्वारा योग और क्षेम सम्पादन करे, राजकीय नियमों द्वारा प्रजा का उसके धर्म में नियंत्रण करे, विद्या प्रचार द्वारा प्रजा को विनीत और शिक्षित बनावे, आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता देकर प्रजा का प्रिय बना रहे और प्रजा के हित के साथ ही अपनी लोकयात्रा करे, अर्थात् अपने निजी व्यवहार में भी प्रजा के हित का ध्यान रखे। इस प्रकार, इन्द्रियों को वश में रखता हुआ पर स्त्री, परद्रव्य तथा परहिंसा का सर्वथा परित्याग करे। अनुचित निद्रा, चपलता, मिथ्याभाषण, उद्धतवेष, अनर्थकारी कार्यों तथा ऐसे (पुरुषों के) सहवास को छोड़ दे। अधर्म और अनर्थ से युक्त व्यवहार को भी छोड़ दे।[1]

धर्म, अर्थ और काम का विचार—अन्य मनुष्यों की भाँति राजा के सामने भी बहुधा यह समस्या उपस्थित हो जाती है कि धर्म, अर्थ और काम में किसे प्रधानता दी जाय। कुछ आदमी धर्म को बहुत अधिक महत्व देते हैं, कुछ काम अर्थात् सुख-भोग

---

[1] कौ० अ० १।७

की ओर आकर्षित हो जाते हैं; आधुनिक जगत में बहुतसे आदमी अर्थ ? अर्थात् धन के पीछे बे-तहाशा दौड़ रहे हैं। अतः पाठकों के मनमें, इस विषय में कौटल्य का मत जानने की इच्छा होना स्वाभाविक है। आचार्य लिखता है कि '(राजा) धर्म और अर्थ के अनुसार ही काम का सेवन करे, सुख-रहित न रहे। अथवा, परस्पर अनुबद्ध धर्म और काम का बराबर-बराबर सेवन करे, क्योंकि अत्यधिक सेवन किया हुआ इनमें से कोई एक, शेष दोनों को तथा आत्मा को कष्ट पहुँचाता है। इन तीनों में अर्थ ही प्रधान है, क्योंकि धर्म और काम अर्थमूलक ही होते हैं, अर्थात् अर्थ ही इन दोनों का कारण है।[1] इस प्रकार आचार्य न तो चरमसीमा के वैराग के ही पक्ष में है, और न भोग-विलास के ही। वह मध्यम मार्ग को ग्रहण करने का आदेश करता है।

राजा की दिनचर्या—आचार्य भली भाँति अनुभव करता है कि राजा के उन्नतिशील होने पर उसके अमात्य आदि भी उन्नतिशील होते हैं। यदि राजा प्रमादी हो जाय तो वे भी प्रमाद करने लगते हैं और राजकार्यों को नष्ट कर देते हैं; इस प्रकार का राजा शत्रुओं से सदा धोखा खाता है।' इसलिए उसका आदेश है कि 'राजा को सदैव अपने आपको उन्नतिशील बनानें का यत्न करते रहना चाहिए।'[2] इसी विचार से राजा के कार्य-विभाग के सुभीते के वास्ते, दिन और रात के समय को आठ-आठ भागों में विभक्त करते हुए वह लिखता है कि दिन के पहले आठवें हिस्से में राज्य की रक्षा सम्बन्धी बातें तथा पिछले दिन आय-व्यय को सुने: दूसरे हिस्से में 'पौर जानपद' के कार्य का निरीक्षण करे; तीसरे हिस्से में स्नान तथा भोजनादि करे और कुछ स्वाध्याय भी करे; चौथे हिस्से में पिछले दिन के शेष धन

[1] कौ० अ० १।७ [2] कौ० अ० १।१६

को सँभाले, और भिन्न-भिन्न कार्यों पर अध्यक्ष आदि की नियुक्त करनी हो तो करे; पाँचवें हिस्से में मंत्रिपरिषद् के साथ पत्र आदि भेजकर आवश्यक विषयों पर विचार करे तथा, गुप्तचरों के कार्य तथा अन्य जानने योग्य गुह्य बातों को सुने; छठे हिस्से में इच्छानुसार विहार अथवा मंत्रणा करे; सातवें हिस्से में हाथी, घोड़े, रथ तथा हथियारों का निरीक्षण करे; आठवें हिस्से में सेना-पतिको साथ लेकर युद्ध आदिके सम्बन्ध में विचार करे। दिन के समाप्त होजाने पर, सायंकाल के समय संध्योपासना करे।'

'राजा रात्रि के प्रथम भाग में गूढ़ पुरुषों को देखे; दूसरे भाग में स्नान भोजन तथा स्वाध्याय करे; तीसरे भाग में गाना बजाना आदि सुनता हुआ सो जावे, तथा पूरे चौथे और पाँचवें भाग में शयन करे; छठे भाग में बाजे आदि के शब्द से उठकर शास्त्र तथा इतिकर्तव्यता का (जो कार्य दिन में करने हों, उनका) चिन्तन करे; सातवें भाग में मंत्र अर्थात् गूढ़ बातों पर विचार करे और गूढ़ पुरुषों को जहाँ भेजना हो, वहाँ भेजे; आठवें भाग में वह ऋत्विक् आचार्य और पुरोहितों के साथ-साथ स्वस्तिवाचन तथा मांगलिक मंत्र-पाठों के सहित आशीर्वाद ग्रहण करे, और चिकि-त्सक, माहानासिक (राजकीय पाकशाला का निरीक्षक) तथा मौहूर्तिक अर्थात् ज्योतिषी से मिले। (अपनी शारीरिक अवस्था को जानने के लिए वैद्य का, अभीष्ट भोजन आदि बनाने के लिए माहानासिक का, और उस दिन के कार्य के शुभाशुभ का पता लेने के लिए ज्योतिषी का प्रातःकाल ही राजा से मिलना अत्यन्त आवश्यक होता है)। पश्चात् राजा बछड़े सहित गाय और बैल की प्रदक्षिणा करके दरबार में जाय। शक्ति और अनुकूलता के अनुसार, राजा दिन रात के इस समय-विभाग में परिवर्तन कर सकता है।'[1]

[1]कौ० अ० १।१९

ऐसी दिनचर्यावाले राजा को कौन आरामतलब या विलासी कह सकता है? और कितने राजा ऐसा कर्तव्यनिष्ठ जीवन व्यतीत करते हैं? निस्संदेह, आचार्य के कथनानुसार दिनचर्या रखने वाले राजा के लिए शासनकार्य इतना अधिकारोभोग का प्रश्न नहीं रहता, जितना कर्तव्य पालन का हो जाता है। यह ऐश्वर्य कांटों के मुकुट के समान है, जो केवल सेवा भाव से ग्रहण किया जाय।

प्रजा से भेंट—क्या राजा को समय-समय पर ही नहीं, प्रतिदिन प्रजा के सधारण आदमियों तक से मिलना चाहिए? क्या इससे उसकी मान-प्रतिष्ठा में कुछ कमी न होगी? अथवा, इससे कुछ लाभ होगा? यह प्रश्न विचारणीय है, विशेषतया जबकि आज-कल यहाँ अनेक राजा बहुधा कई-कई महीने और कभी-कभी तो बर्षों राज्य से दूर सैर-सपाटे में रहते हैं, एवं जब राजधानी में भी रहते हैं तो अपने प्रधान मंत्री आदि कुछ खास-खास कर्मचारियों तथा रईसों और सरदारों से ही मिलते-जुलते हैं। सर्वसाधारण नागरिकों की उन तक पहुँच नहीं हो पाती। शायद राजाओं का यह विचार हो कि 'अति परिचयादवंज्ञा' अर्थात् ज्यादह मिलने-जुलने से लोगों में उनका महत्व और प्रतिष्ठा कम रह जायगी।

अस्तु कौटल्य को ऐसी कोई आशंका नहीं है। उसका आदेश स्पष्ट है कि राजा प्रतिदिन प्रातः काल दरबार में जाय और 'राजा जब दरबार में उपस्थित हो तो किसी कार्य के लिए आने वाले पुरुष को खुले तौर पर आने दे। जो राजा कठिनता से दर्शन देता है, उसके कार्य समीप रहने वाले सेवक (ही कर डालते हैं और) उलट-पुलट कर देते हैं। उस राजा के अमात्य आदि प्रकृतिजन उस से प्रकुपित होजाते हैं अथवा राजा अपने शत्रु के बश में चला जाता है। इस लिए राजा को चाहिए कि देवालय,

आश्रम, धूर्तों या वंचकों के निवास स्थान, श्रोत्रिय अर्थात् वेदपाठियों के स्थान, पशु (गाय घोड़ा हाथी आदि के) स्थान तथा अन्य पुण्य स्थानों के भी सब कार्यों का और बालक बूढ़े, रोगी, दुखी, अनाथ तथा स्त्रियों के भी सब कार्यों का क्रमपूर्वक, स्वयं जाकर ही निरीक्षण करे।'[1] आचार्य के इस आदेश का हेतु स्पष्ट ही है; स्वयं देखने से राजा इन कार्यों के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकता है, यद्यपि उसे गुप्तचरों से इस विषय में पर्याप्त सहायता मिल सकती है परन्तु उसे इस विषय में उन पर ही निर्भर न रहकर अपनी प्रजा की परिस्थिति से स्वयं सुपरिचित रहने का प्रयत्न करते रहना चाहिए, और निम्न कर्मचारियों की एकांगी, भ्रमपूर्ण, झूठी-सच्ची रिपोर्टों पर निर्भर न रहना चाहिए। यह बात शासकों के लिए कितनी बहुमूल्य और शिक्षाप्रद है!

राजा का वेतन—कई हिन्दू शास्त्रकारों के मत से राजा राज्य की समस्त सम्पत्ति का अधिकारी नहीं होता, वह उसे धरोहर की भांति रखे, उसकी रक्षा करे, और उसे प्रजा के हितार्थ खर्च करता रहे। जैसे अन्य राज्यधिकारी अपनी सेवाओं के उपलक्ष्य में राजकोष से एक निर्धारित रकम अपने भरण पोषण आदि के लिए लें, इसी प्रकार राजा भी वेतन-स्वरूप कुछ द्रव्य ले। और क्योंकि वह सर्वोच्च अधिकारी है, इस लिए वह सब से अधिक वेतन ले सकता है, तथापि, उस वेतन की देश कालानुसार मर्यादा है।

ऐसे ही विचारों को मान्य करते हुए कौटल्य ने जहाँ अन्य भृत्यों (पदाधिकारियों या कर्मचारियों) के भरण पोषण का विचार करते हुए उनके वेतन का परिमाण बतलाया है, वहाँ वह यह भी

---

[1]कौ० अ० १।१६

लिखता है कि 'राजा को अपने समान गुणवालों से तिगुना वेतन मिलना चाहिए। राजसूय यज्ञ आदि करने पर राजा के सारथी को एक हजार पण दिया जाय।'[1] राजा के समान गुणवाले व्यक्ति मंत्री (प्रधान मंत्री) सेनापति आदि हो सकते हैं, और इन का वेतन आचार्य ने ४८ हजार पण वार्षिक नियत किया है। इस प्रकार राजा का वेतन १,४४००० पण वार्षिक ठहरता है। अस्तु, इस से स्पष्ट है कि राजा राजकोष का स्वामी नहीं था, उसे निर्धारित रकम ही मिलती थी। राजमाता, राजमहिषी, युवराज, कुमार-माता आदि का वेतन या भत्ता भी कौटल्य ने निश्चित कर दिया है, इसका उल्लेख आगे 'राजस्व' के परिच्छेद में किया जायगा।

राजा के वेतन सम्बन्धी जो उद्धरण ऊपर दिया गया है, उसके विषय में अर्थशास्त्र के अनुवादकों और टीकाकारों में मतभेद है। मूल पाठ इस प्रकार है:—समान विद्योभ्यस्त्रिगुण वेतनोराजा राजसूयादिषु क्रतुषु राज्ञः सारथि साहस्रः। श्री० उदयवीर जी शास्त्री ने इसका अर्थ यह किया है, 'राजसूय आदि यज्ञों के करने पर राजा, मंत्री, पुरोहित आदि को उनके साधारण वेतन से तिगुना देवे। और राजा को यज्ञस्थान में लाने वाले सारथी को १००० पण दिया जाय।' श्री० शाम शास्त्री जी ने मूल पाठ का जो अंगरेजी अनुवाद किया है, उसका आशय यह है कि 'राजसूय और अन्य यज्ञों में जो व्यक्ति राजा का प्रतिनिधि हो, वह अपने समान गुणवालों से तिगुना वेतन पाये, और (यज्ञ में) राजा का सारथी १००० पण।'

हमें ये अर्थ ठीक नहीं जचे। हम श्री० जायसवाल जी के इस विषय सम्बन्धी वक्तव्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित

---

[1] कौ० अ० ५।३।२३

कराना चाहते हैं। वे अपने ग्रन्थ (Hindu Polity) में लिखते हैं कि 'आपस्तम्ब' के अनुसार राजा का वेतन अमात्यों और गुरुओं से अधिक नहीं होना चाहिए। 'आपस्तम्ब' में जिन्हें गुरु कहा गया है, वे ऋत्विक, आचार्य और पुरोहित ही हैं। इन तीनों के, अथवा कौटल्य के तीन सर्वोच्च अमात्य मन्त्री, सेनापति और युवराज के, सम्मिलित वेतन से राजा का वेतन अधिक नहीं होना चाहिए। इस प्रकार 'आपस्तम्ब' के नियम का अर्थशास्त्र के उपर्युक्त नियम से (जिस रूप में हमने उसका अर्थ लिया है) ठीक मेल बैठता है।

पूर्वोक्त सूत्र के अर्थ की गड़बड़ी का कारण पाठ की भ्रष्टता जान पड़ती है। सूत्र को 'राजा' तक पढ़कर आगे नया सूत्र मान लेने की दशा में इस सूत्र के दो सूत्र हो जाते हैं, और उनका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार साफ़ हो जाता है।

कौटल्य के समय में राजा के वेतन की बात प्रचलित थी, तथा राजा भी एक उच्चपदाधिकारी मात्र माना जाता था। (राज्य का स्वामी नहीं) इसका अर्थशास्त्र में अन्यत्र भी उल्लेख मिलता है। सेना को उत्साहित करने के सम्बन्ध में आचार्य ने लिखा है कि एकत्रित सेना को सम्बोधन करके राजा इस प्रकार कहे कि मैं भी आपके ही समान वेतन लेनेवाला हूँ, (तुल्य वेतनोऽस्मि), आप लोगों के साथ ही मैं इस राज्य का उपभोग कर सकता हूँ।[1]

राजा का नियंत्रण—इस प्रकार, यद्यपि कौटल्य ने विविध नियमों द्वारा राजा को संयमी और कर्तव्यमय जीवन व्यतीत करनेवाला बनाया है, तथापि वह अनुभव करता है कि मनुष्य आखिर मनुष्य ही है; उससे गलती हो सकती है। वह जटिल या आकर्षक परिस्थितियों में कर्तव्य-भ्रष्ट हो सकता है। और क्योंकि

---

[1] कौ० अ० १०।३

राजा की थोड़ीसी गलती से बहुत अनिष्ट हो जाने, प्रजा के बहुत पीड़ित होने, की सम्भावना है, अतः कौटल्य राजा को समुचित रूप से नियंत्रित करने के पक्ष में है। वह लिखता है कि (राजा) आचार्यों और अमात्यों को अपनी मर्यादा अर्थात् सीमा बनावे, जो उसे बुराइयों की ओर से रोक सकें। अन्तःपुर आदि एकान्त स्थानों में प्रमाद करते हुए राजा को आचार्य, अमात्य आदि उसकी दिनचर्या अर्थात् समय-विभाग के हिसाब से, समय का अपव्यय दिखाकर सावचेत करें।'[1] यही नहीं, आचार्य यह स्पष्ट आदेश करता है कि वह पुरोहित का इस प्रकार अनुगामी रहे जैसे कि शिष्य आचार्य का, पुत्र पिता का, तथा भृत्य स्वामी का होता है।[2] निदान, आचार्य राजा के नियंत्रण सम्बन्धी उपदेश में कोई कसर नहीं रखता।

राजा पर प्रभाव डालनेवाली और उसको नियंत्रित करनेवाली मुख्य संस्था मंत्रिपरिषद् और पौर जानपद थीं। इनके विषय में कौटल्य के विचार अगले अध्यायों में दिये जायँगे।

लोकमत का प्रभाव—राजा पर लोकमत का भी अच्छा प्रभाव पड़ता था। अन्यान्य व्यक्तियों में उसे संन्यासियों और ब्राह्मणों द्वारा बहुत-कुछ नियंत्रित रहना पड़ता था। संन्यासी सांसारिक प्रलोभनों तथा भयादि से मुक्त होने के कारण, आवश्यकतानुसार राजा को निर्भीकता पूर्वक उपदेश कर सकते थे, राजा की कोई मजाल नहीं कि उनके निस्वार्थ भाव से दिये हुए आदेशों की अवहेलना कर सके। यही बात ब्राह्मणों के विषय में कही जा सकती है; क्योंकि वे निर्लोभी होते थे, धन या राजकीय पद के भूखे न रहते थे, विद्याध्ययन और ज्ञान, दान तथा परोपकार उनके जीवन का व्रत रहता था, इसलिए राजा उनकी बात सुनी-अनसुनी नहीं कर सकता था।

---

[1]कौ० अ० १।७ [2]कौ० अ० १।६

और, क्योंकि ब्राह्मण प्रत्येक नगर और गाँव में रहते थे, तथा अन्य गृहस्थियों से रोजमर्रा के व्यवहारों में मिलते-जुलते थे, वे लोकमत को ऐसा बनाये रखने में यथेष्ट सहायक होते थे, कि राजा अनियंत्रित न रह सके। जैसाकि हमने अन्यत्र कहा है, कौटल्य राजा को सावचेत करता है कि "अज्ञानतापूर्वक, अथवा काम या क्रोध के कारण अनुचित रीति से प्रयुक्त राजशक्ति वानप्रस्थ और परिव्राजक जैसे निस्पृह व्यक्तियों को भी कुपित कर देती है, फिर गृहस्थों का तो कहना ही क्या है![1]

---

[1] कौ० अ० १।४

छठा अध्याय

मंत्री और मंत्रिपरिषद्

अर्थशास्त्र के 'मंत्राधिकार' प्रकरण में, कौटल्य ने पहले मंत्रियों के सम्बन्ध में विचार करके, फिर मंत्रिपरिषद् के विषय में लिखा है।[1] कुछ पाठकों का यह अनुमान होता है कि मंत्रियों के समूह को ही मंत्रिपरिषद् कहा गया है। परन्तु प्रकरण के अवलोकन से यह मालूम होता है कि मंत्री वे हैं जो राजा के साथ रहकर मंत्रणा में भाग लें। इसके विपरीत, मंत्रिपरिषद् के सदस्य साधारणतया मंत्रणा में भाग नहीं लेते थे। मंत्रिपरिषद् का अधिवेशन खास-खास दशाओं में ही, राजा के बुलाने पर होता था। सामान्यतः राजा इनसे स्वयं मिलकर या पत्र द्वारा परामर्श ले सकता था। मंत्रिपरिषद् के सदस्य वादविवाद के पश्चात् अपना मत प्रकट करते थे। उसका निर्णय राजा को मान्य होता था।

मंत्रणा—आचार्य ने मंत्रणा पर बहुत जोर दिया है, तथा इसके सम्बन्ध में कितनी ही ब्यौरेवार बातें बतलायी हैं। वह कहता है कि 'अपने देश तथा शत्रु के देश के पुरुषों को अपने अनुकूल बनाने के अनन्तर राजा विविध कार्यों के प्रारम्भ करने का चिन्तवन करे। सम्पूर्ण कार्यों का प्रारम्भ मंत्र-पूर्वक ही किया जाना चाहिए।'[2] इससे मंत्रणा का महत्व स्पष्ट है।

कौटल्य ने मंत्रणा के पाँच अंग बताये हैं:—

१—नये कार्य आरम्भ करने तथा अधूरे कार्यों को पूरा करने के उपाय और योजना।

---

[1] कौ० अ० १।१५ [2] कौ० अ० १।१५

२—उक्त योजना के कार्यों के लिए आवश्यक द्रव्य और आदमियों की व्यवस्था।

३—अभीष्ट कार्य के सम्बन्ध में देश और काल का विचार।

४—कार्य में आनेवाली आकस्मिक आपत्तियों का प्रतिकार।

५—कार्य सिद्धि।

श्री० उदयवीर जी शास्त्री ने लिखा है कि "अपने देश में खाई परकोटा आदि के द्वारा दुर्ग आदि बनाना तथा दूसरे के देश में संधि, विग्रह आदि के लिए दूत आदि को भेजना ये 'कार्य' कहाते हैं।"

मंत्रणा की शैली—आचार्य का कथन है कि 'राजा पृथक्-पृथक एक-एक मंत्री से अथवा समस्त मंत्रियों से भी सलाह ले सकता है। (इस प्रकार विचार करने से कभी-कभी बहुत अच्छा निष्कर्ष निकलता है।) युक्तिपूर्वक इनके भिन्न-भिन्न अभिप्रायों को समझे। अर्थ का निश्चय करके उसको शीघ्र ही कार्य में परिणत करने का यत्न करे, (समय को व्यर्थ बिताना अच्छा नहीं)। किसी एक विषय पर बहुत समय तक मंत्रणा न करे।' तात्पर्य यह है कि अच्छे से अच्छे निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए, और उस निर्णय के अनुसार शीघ्र कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। आचार्य ने दीर्घ काल तक मन्त्रणा करने का निषेध इसलिए किया है कि बहुत वाद-विवाद से मन्त्रणा गुप्त नहीं रहती और, कार्य पूरा नहीं हो पाता।

गुप्त रखने का आयोजन—आचार्य ने इस बात की यथेष्ट व्यवस्था की है कि मन्त्रणा का कार्य अत्यन्त गुप्त स्थान में हो, और अत्यन्त विश्वनीय एवं सम्बन्धित पुरुषों के अतिरिक्त कोई उसे जानने न पावे। वह लिखता है, 'मन्त्रणा का स्थान चारों ओर से ढका हुआ होना चाहिए, जिससे आपस की बातचीत का शब्द बाहर न जा सके ...... कोई भी व्यक्ति राजा की आज्ञा

बिना मन्त्र-स्थान में कदापि न आवे। यदि इनमें से ही कोई व्यक्ति गुप्त विचार को प्रकाशित कर दे तो उसका सर्वथा उच्छेद कर देना चाहिए।' आगे आचार्य कहता है कि 'राजा के गुह्य मन्त्रों को कोई दूसरा पुरुष न जान सके, प्रत्युत् वह दूसरों के दोषों को जान ले। जिस प्रकार कछुवा अपने अंगों को संकुचित करके रखता है, उन्हें फैलने नहीं देता, इसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह अपने आन्तरिक भावों को फैलने न दे, यत्नपूर्वक उनको छिपा कर रखे। जिस प्रकार वेद न पढ़नेवाला (ब्राह्मण) श्रेष्ट पुरुषों के यहाँ श्राद्ध-भोजन नहीं कर सकता, उसी प्रकार जिसने शास्त्र के अभिप्रायः को नहीं सुना या जाना है, वह मन्त्र को नहीं सुन सकता।'

मंत्री—अब हम यह विचार करें कि कौटल्य मन्त्रियों के विषय में क्या कहता है। इनकी नियुक्ति अमात्यों में से होती थी। अमात्यों के विषय में कुछ बातें पहले लिखी जा चुकी है। आचार्य ने अपने अर्थशास्त्र के एक अध्याय में केवल इसी बात का विचार किया है कि अमात्यों के हार्दिक भावों की परीक्षा किन-किन गुप्तउपायों से की जाय। इन परीक्षाओं के लिए आचार्य ने अमात्यों के सम्मुख भांति-भांति के प्रलोभन रखने के सम्बन्ध में लिखा है। आगे वह कहता है कि 'जो धर्मोपधा (अर्थात् धर्म के द्वारा) परीक्षा किया गया हो उसे 'धर्मस्थ' और कंटकशोधन नामक न्याय-कार्यों पर नियुक्त किया जाय। जो अर्थोपधा शुद्ध हों, उन्हें समाहर्ता (कर वसूल करनेवाला) सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) आदि पदों पर नियुक्त किया जाय। जो कामोपधा शुद्ध हो उन्हें बाहर के क्रीड़ा-स्थानों तथा स्त्रियों की रक्षा पर नियुक्त किया जाय! भयोपधा शुद्ध अमात्यों को राजा अपने समीप ही किन्ही कार्यों पर नियुक्त करे।' इस प्रकार आचार्य ने भिन्न-भिन्न अमात्य की नियुक्ति के विषय में लिखकर

करे।' इससे प्रतीत होता है कि आचार्य इस पक्ष में है कि राजा मन्त्रियों के बहुमत के अनुसार कार्य करे।[1]

आधुनिक पाठक कह सकते हैं कि मंत्रियों की नियुक्ति राजा द्वारा होने से उनपर उसका ही प्रभाव रहना स्वाभाविक है। यदि मंत्री लोकसभा द्वारा नियुक्त हों, और उसी के द्वारा बर्खास्त भी होसकें तो उनका राजा पर प्रभाव पड़ सकता है, राजा उनका मत मानने को वाध्य हो। परन्तु राजा द्वारा नियुक्त होने की दशा में, यदि राजा उनके बहुमत को न माने तो वे केवल त्याग पत्र दे सकते हैं, राजा दूसरे मंत्रियों को नियुक्त कर लेगा, जो उसकी इच्छानुसार चलेंगे। इस प्रकार, मंत्री राजा के केवल परामर्शदाता या सलाहकार होते होंगे, उनका राजा पर विशेष नियंत्रण न रहता होगा।

परन्तु तत्कालीन व्यवस्था को देखने से उपर्युक्त अनुमान ठीक नहीं जँचता। श्री० जायसवाल जी ने लिखा है कि आपस्तम्ब के अनुसार राजा ब्रह्मणों तक को दान नहीं दे सकता था यदि मंत्री उसका विरोध करें। 'दिव्यावदान', से मालूम होता है कि (महराज अशोक के) प्रधान अमात्य राधागुप्त के अधीन मंत्रिपरिषद ने इस बात को अस्वीकार कर दिया कि महाराज अशोक की आज्ञानुसार बौद्ध सम्प्रदाय को कुछ और दान दिया जाय। अशोक अपने एक

[1]कौ० अ० १।१५।६४; मूल पाठ यह है 'तत्र यद्भूयिष्ठा कार्य सिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात् ।' श्री० सत्यकेतु जी ने इसके पिछले भाग का अर्थ यह किया है कि या राजा वह करे जो सिद्धिकर प्रतीत हो।' इस प्रकार उनका मत है कि राजा को 'वीटो' या निषेध का अधिकार प्राप्त था। श्री० जायसवाल जी का मत इसके विरुद्ध है। मूल पाठ की भाषा से हमें यही प्रतीत होता है कि उपाय को सिद्धिकर बताने न बताने का कार्य मन्त्रियों एवं मंत्रपरिषद के सदस्यों का था। राजा उनके निर्णय को स्वीकार करता था।

शिलालेख में कहता है कि उसके दान देने की आज्ञा या घोषणा पर यदि मंत्रिपरिषद् में वादविवाद हो तो उसे इसकी सूचना दी जाय। इससे स्पष्ट है कि मंत्रिपरिषद् राजा द्वारा कियेजानेवाले व्यय का ही नियंत्रण नहीं कर सकता था, वरन् उसकी घोषणा आदि का भी विरोध कर सकता था। पुनः जब रुद्रदमन ने सुदर्शन झील (गुजरात) की मरम्मत कराने के लिए मंत्रिपरिषद् की स्वीकृति चाही, और वह प्राप्त न हुई तो उसे वह कार्य अपने निजी खर्च से करना पड़ा।

इससे मंत्रियों की शक्ति का पता लगता है, और मालूम होजाता है कि वे राजा के केवल परामर्शदाता मात्र न थे, वरन् उन्हें यथेष्ट नियंत्रण अधिकार प्राप्त था।

कितने मंत्रियों से एक साथ मंत्रणा की जाय?—कौटल्य ने अन्य आचार्यों के इस विषय सम्बन्धी मत की आलोचना की है कि राजा को अकेले ही प्रस्तुत विषयों का निश्चय करना चाहिए, अथवा एक मंत्री से या दो मंत्रियों से परामर्श लेना चाहिए, अथवा जिस विषय का जिस मंत्री से सम्बंध हो, उस विषय के सम्बंध में उस मंत्री से विचार करना उचित है। कौटल्य को उपर्युक्त कोई भी मत मान्य नहीं है। उसका कथन है कि 'तीन या चार मंत्रियों के साथ विचार किया जाय, क्योंकि एक ही मंत्री के साथ मंत्रणा करता हुआ राजा कठिन विषयों पर यथेष्ट निश्चय नहीं कर सकता, और वह मंत्री स्वेच्छापूर्वक कार्य करने लगता है। यदि राजा केवल दो मंत्रियों के साथ विचार करता है तो यह बहुत सम्भव है कि दोनों परस्पर में मिल जायँ और राजा की कुछ न चले, अथवा यदि वे आपस में झगड़ें तो सब कार्य ही बिगड़ जाय। परन्तु तीन या चार मंत्रियों के सलाहकार होने पर, इस प्रकार का अनर्थकारी कोई भी महान दोष उत्पन्न नहीं होता, अथवा बहुत कठिनता से उत्पन्न होता है। फिर भी कार्य में कोई बाधा नहीं

पड़ती, वह ठीक तौर पर होता ही रहता है। यदि मंत्री चार से अधिक हो जायँ तो फिर कार्य का निश्चय करना कठिन होता है, और मन्त्र की रक्षा भी कठिनता से होती है।[1]

उपमन्त्री—यद्यपि कौटल्य ने यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया कि उस समय प्रत्येक मन्त्री के कितने उपमंत्री होते थे, पर यह निश्चित है कि उपमंत्री होते अवश्य थे। आचार्य ने मंत्र को गुप्त रखने के प्रसंग में भारद्वाज के इस मत का उल्लेख किया है कि 'गुह्य बातों का राजा अकेला ही विचार करे, अर्थात् मंत्री को भी साथ में न ले, क्योंकि मंत्रियों के भी मंत्री होते हैं, और उनके भी फिर अपने और मंत्री होते हैं।[2]

मंत्रिपरिषद के सदस्य—मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या के विषय में आचार्य ने पहले अन्य नीतिज्ञों के मतों का उल्लेख किया हैं, जिन्होंने सदस्यों (अमात्यों) की संख्या बारह, सोलह, अथवा बीस बतलायीं है। तदुपरान्त आचार्य कहता है कि संख्या निश्चित करने की आवश्यकता नहीं; वह तो कार्य करने वाले पुरुषों के सामर्थ्य के अनुसार रखी जा सकती है। इन्द्र की मंत्रिपरिषद् में एक हज़ार ऋषि थे। वे ही कार्यों को दिखानेवाले होने के कारण, इन्द्र के चक्षु के समान थे। इसलिए दो आँखवाले इन्द्र को सहस्राक्ष (हज़ार आँखवाला) कहा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक राजा को अपनी मंत्रिपरिषद् में सामर्थ्यानुसार अमात्य रखने चाहिए।[3]

---

[1] आचार्य का यह भी मत है कि देश काल और कार्य के अनुसार राजा एक या दो मंत्रियों से भी मन्त्रणा करे, अथवा अपनी सामर्थ्य के अनुसार स्वयं अकेला भी किसी विषय का निश्चय करे।

[2] कौ० अ० १।१५; शुक्रनीति में एक-एक मंत्री के दो-दो उपमंत्री होने का उल्लेख हैं।

[3] कौ० अ० १।११

मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या में भिन्न-भिन्न आचार्यों का मतभेद होते हुए भी हिन्दू राजतंत्र में आठ मंत्रियों के रहने की बात बहुत प्रचलित रही है। महाभारत में यद्यपि चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र और एक सूत इस प्रकार कुल ३७ व्यक्तियों की मंत्रिपरिषद् होने का उल्लेख आया है, तथापि उसमें यह भी कहा गया है कि चार ब्राह्मण, तीन शूद्र और एक सूत इन आठ व्यक्तियों को प्रधानता दी जानी चाहिए। मनुस्मृति में, सात या आठ मंत्रियों के रखने का आदेश है।

आधुनिक काल में, सतरहवीं शताब्दी में, छत्रपति शिवा जी महाराज ने प्राचीन आदर्श के अनुसार आठ मंत्रियों का 'अष्ट प्रधान' मंडल संगठित किया था। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ अधिकतर आठ मन्त्री की ही बात व्यवहार में आती रही है।

सातवाँ अध्याय

उच्च पदाधिकारी

प्रत्येक शासनपद्धित में कुछ अधिकारी बहुत महत्व के होते हैं। उन्हें बहुत अधिकार रहता है, तथा उनके कर्तव्य बहुत व्यायक होते हैं। उनके व्यवहार का सर्वसाधारण पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। राजतन्त्र में राजा और उसके मन्त्री तो होते ही हैं। पर इनके अतिरिक्त कुछ और भी उच्च पदाधिकारी होते हैं। भारतवर्ष में समय-समय पर इन्हें भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। रामायण महाभारत आदि में इन्हें 'तीर्थ' कहा गया है। जैसा आगे बताया जायगा, कौटल्य ने 'महामात्र' के अतिरिक्त इस शब्द का भी प्रयोग किया है। 'तीर्थ' कहे जाने का कारण यह होगा कि ये अधिकारी बहुत प्रतिष्ठित या पूज्य माने जाते थे।

उच्च पदाधिकारियों की संख्या—हमारे प्राचीन साहित्य में इनकी संख्या १८ बताई गयी है। अर्थशास्त्र में आचार्य ने यही संख्या सूचित की है। गुप्तचरों की विविध कार्यों पर नियुक्त के विषय में लिखता हुआ वह कहता है कि 'इस प्रकार (राजा) शत्रु, मित्र, मध्यम, और उदासीन राजाओं तथा उनके अठारह 'तीर्थों' के पास गुप्तचरों की नियुक्ति करे।[1] इस प्रकार आचार्य ने राज्य के उच्चपदाधिकारियों की संख्या के विषय में प्राचीन परम्परा को ही मान्य किया है।

पदाधिकारियों के पद—यद्यपि अर्थशास्त्र के उक्त प्रकरण में ही पदाधिकारियों के पद का उल्लेख किया गया है, तथापि उसका अर्थ लगाने में भिन्न-भिन्न लेखकों में बड़ा मतभेद रहा है। कई

---

[1] कौ० अ० १।१२

लेखकों ने कौटल्य के उस पाठ में कुल संख्या उन्नीस समझकर, उनमें से किन्हीं दो को एक (संयुक्त) बतलाकर वास्तविक संख्या अठारह ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[1] हमें श्री० एन० एन० ला का कथन ठीक मालूम होता है।[2] उनके अनुसार उक्त उच्च पदाधिकारी निम्नलिखित थे:—

(१) मंत्री, (२) पुरोहित, (३) सेनापति, (४) युवराज, (५) दौवारिक, (६) अन्तर्वंशिक, (७) प्रशास्ता, (८) समाहर्ता, (९) सन्निधाता, (१०) प्रदेष्टा, (११) नायक, (१२) पौरव्यावहारिक, (१३) कार्मान्तिक[3], (१४) मंत्रिपरिषदाध्यक्ष, (१५) दण्डपाल, (१६) दुर्गपाल, (१७) अन्तपाल, (१८) आटविक।

[1]श्री० सत्यकेतु जी विद्यालंकार ने मन्त्री और पुरोहित को संयुक्त पद समझा है, और पौरव्यावहारिक को एक पद न मानकर दो पृथक्-पृथक पद माने हैं। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने लिखा है कि अर्थशास्त्र में मन्त्री और पुरोहित की नियुक्ति का वर्णन एक ही प्रकरण में हुआ है तथा इनके कार्यों का उल्लेख भी प्रायः एक ही साथ हुआ है। कौटल्य चन्द्रगुप्त का मन्त्री और पुरोहित दोनों था। श्री० देवव्रत जी शास्त्री ने इन दोनों पदों को भिन्न-भिन्न माना है; उन्होंने दुर्गपाल तथा अन्तपाल पद को संयुक्त समझा है, उनका कथन है कि ये दोनों कार्य एक ही व्यक्ति करता था। इस प्रकार, उच्च पदाधिकारियों की कुल संख्या उन्होंने भी अठारह ही मानी है। श्री० जायसवाल जी ने न जाने क्यों आटविक को छोड़ दिया है, यों कुल संख्या उनके अनुसार भी अठारह ही है।

[2]देखिए, Aspects of Indian Polity.

[3]श्री० उदयवीर शास्त्री ने अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के बारहवें अध्याय के आठवें सूत्र में इसे 'कार्तान्तिक' लिखा है, जिसका अर्थ ज्योतिषी होता है। यह सम्भवतः प्रेस की भूल है, क्योंकि उन्होंने इसका अर्थ तो 'खानों का निरीक्षक' ही किया है।

अब इनमें से प्रत्येक का कुछ परिचय दिया जाता है।

१-मंत्री—मंत्री से आशय प्रधान मंत्री है। यह महामात्य राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था। इसकी नियुक्ति के सम्बन्ध में कौटल्य कहता है कि 'अपने देश में उत्पन्न हुआ, कुलीन जो बुराइयों से जल्द हटाया जा सके, सवारी युद्ध तथा गान आदि विद्याओं में निपुण अर्थशास्त्र जाननेवाला, स्वाभाविक बुद्धि से युक्त, स्मरणशक्ति सम्पन्न, चतुर, वक्ता, प्रगल्भ (दबंग), प्रतिवाद करने में समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली क्लेश को सहनेवाला, पवित्र-हृदय, मधुर व्यवहार करने वाला, स्वामी में दृढ़ अनुराग रखने वाला, शील बल आरोग्य तथा धैर्यशाली, निरभिमान, स्थिर स्वभाववाला, सौम्य आकृति वाला तथा शत्रुता न करनेवाला पुरुष प्रधान मंत्री होना चाहिए।'[1]

अर्थशास्त्र में, इसके सम्बन्ध में आचार्य कौटल्य ने लिखा है कि राजा इसके साथ साधारण अधिकार पदों पर नियुक्तियाँ करके अमात्यों की पवित्रता की परीक्षा करे।[2] पौर जानपद की सम्मति जानने के लिए गुप्तचरों को नियुक्त करे, अपने देश के आदमियों की देखभाल करने तथा शत्रु-देश के मनुष्यों को वश में लाने के विविध उपाय काम में लाये।[3] विदेशों में राजदूत भेजने में भी इसकी सम्मति ली जाय।[4]

२—पुरोहित—'पुरोहित' शब्द से आजकल साधारण पाठ-पूजा करनेवाले ब्राह्मण की कल्पना होती है। परन्तु कौटल्य का पुरोहित ऐसा मामूली व्यक्ति नहीं है, यह शासनपद्धति में विशेष महत्व

[1]कौ० अ० १।७; कौटल्य ने यहाँ "अमात्यसम्पत्" शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु प्रकरण के शीर्षक तथा प्रसंग से यहाँ प्रधान मन्त्री का ही आशय स्पष्ट है।

[2]कौ० अ० १।१० [3]कौ० अ० १।१२ और १।१४

[4] कौ० अ० १।१६

रखता है, प्रधानमंत्री से दूसरे दर्जे पर उसी का स्थान है। उसकी नियुक्ति के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र में बताया है कि 'शास्त्र-प्रतिपादित विद्या आदि गुणों से युक्त, उन्नत कुलशील, षडंगवेद, ज्योतिष-शास्त्र, शकुन-शास्त्र तथा दंडनीतिशास्त्र में अत्यन्त निपुण, दैवीऔर मानुषी आपत्तियों का अथर्ववेद में बताये हुए उपायों से प्रतिकार करनेवाले व्यक्ति को पुरोहित नियुक्त किया जाय।[1] पुरोहित के ऐसे योग्य होने की आवश्यकता इसलिए है कि प्राचीन शासन-पद्धति में धर्म की रक्षा का उत्तरदायित्व राजा पर होता था, और राजा को इस विषय में उचित परामर्श देने का काम पुरोहित करता था। भारतवर्ष के अतिरिक्त और भी अनेक देशों में पहले ऐसा ही होता था आजकल भी कहीं-कहीं राज्य का एक विभाग धर्मविभाग होता है। भारतवर्ष में इसमय अंगरेजी राज्य में ईसाई धर्म विभाग (एकलेजिएस्टिकल डिपार्टमेंट' भी है जिसे गवर्नर-जनरल का सुरक्षित विषय कहा जा सकता है।

आचार्य कौटल्य ने कहा है कि 'राजा पुरोहित का इस प्रकार अनुगामी बना रहे जैसे शिष्य आचार्य का, पुत्र पिता का, और भृत्य स्वामी का अनुगामी होता है।[2] कदाचित इससे ऐसा अनुमान हो कि कौटल्य की शासनपद्धति में पुरोहित ही मुख्य है, वह राजा से भी ऊपर है। परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है, कारण अर्थशास्त्र के अनुसार राजा अन्यान्य तीर्थों की भाँति पुरोहित पर भी अपने

[1] कौ० अ० १।९

[2] कौ० अ० १।९; कौटल्य ने पुरोहित की यह महिमा या तो प्राचीन परम्परा के प्रवाह में आकर लिखी है, या सम्राट् चन्द्रगुप्त और अपनी स्थिति को सम्मुख रखकर लिखी है। पर उसके राजनैतिक विचारों में राजा की स्थिति पुरोहित के इस तरह अधीन न थी, अन्यथा पुरोहित को दंड देने का कुछ अभिप्राय नहीं हो सकता।

—सत्केतु विद्यालंकार

गुप्तचरों द्वारा कड़ी निगाह रखता था। आचार्य लिखता है कि 'आज्ञा पाकर यदि कोई पुरोहित निम्नकुलोत्पन्न व्यक्ति को (वेद) न पढ़ावे या उसका यज्ञ न करावे तो राजा उसको अधिकारच्युत कर दे।'[1] 'राजा पुरोहित तथा आचार्य के साथ यज्ञशाला में उपस्थित होकर वैद्य और तपस्वियों के कार्यों को, उन्हें आदर-पूर्वक अभिवादन करके, देखे'[2]

इनमें से पहिले उद्धरण से यह स्पष्ट है कि धर्म के अतिरिक्त शिक्षा का कार्य भी पुरोहित के ही सुपुर्द था, और राजा का उसपर नियंत्रण था।

३—सेनापति—आजकल सेनापति का अर्थ सेना का प्रधान संचालक, जंगी लाट या 'कमांडरनचीफ़' लिया जाता है, परन्तु तत्कालीन प्रयोग के अनुसार यहाँ इसका आशय युद्ध सम्बन्धी सर्वोच्च मंत्री या परामर्शदाता है। युद्ध-संचालक को कौटल्य ने 'नायक' लिखा है, इसका उल्लेख आगे किया जायगा। अस्तु, सेनापति के अधीन नावध्यक्ष, रथाध्यक्ष, पत्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, तथा गोऽध्यक्ष पदाधिकारी कार्य करते थे। इन अध्यक्षों का उल्लेख समाहर्ता के अधीन कार्य करनेवालों में किया जायगा। परन्तु उससे इनका विशेषतया उसी सीमा तक सम्बन्ध था, जहाँ तक इनके कार्यों से आय प्राप्त होती थी, वैसे ये सेनापति के ही अधीन थे। [3]सेनापति प्रायः राजपुत्र ही होता था। आचार्य का कथन है कि राजा अपने ऐसे पुत्र को सेनापति या युवराज पद पर नियुक्त करे जो आत्मसम्पत्ति (योग्य गुणों) से युक्त हो।[4]

---

[1]कौ० अ० १।१०

[2]कौ० अ० १।१६; श्री० उदयवीर जी शास्त्री ने वैद्यों का अर्थ विद्वान पुरुष किया है।

[3]कौ० अ० २।३३ [4]कौ० अ० १।१७

४–युवराज—प्राचीन भारत में राजा प्रायः अपने ज्येष्ठ पुत्र को (प्रजा की सम्मति से) युवराज बनाया करता था। सेनापति के सम्बन्ध में कौटल्य का जो उद्धरण दिया गया है उससे स्पष्ट है कि युवराज वही राजपुत्र बनाया जाता था, जिसमें यथेष्ट गुण हों। अन्यत्र कौटल्य कहता है कि "यदि कोई राजकुमार यथेष्ट गुणसम्पन्न न हो तो व्यसनी राजकुमार को, राजकन्या को, या गर्भिणी महारानी को लक्ष्य करके, अमात्य राष्ट्र के महान व्यक्तियों को एकत्रित करके कहे कि यह (राजकुमार या राजकन्या आदि) आपकी धरोहर है। इसके पिता के पराक्रम और वंश की ओर ध्यान दें, और अपनी ओर भी देखें। यह (राकुमार आदि) केवल एक झण्डे के समान है ('ध्वजा मात्र') है। वस्तुतः इस राज्य के स्वामी आप ही लोग हैं। अब बतलाइए इस विषय में क्या किया जाय! जब राष्ट्र के महान पुरुष अमात्य से कहें कि 'आपके नेतृत्व अथवा आपकी देख-रेख में रहते हुए इस (राजकुमार आदि) के सिवाय और कौन है जो राज की चातुर्वर्ण्य प्रजा का पालन कर सके, तो अमात्य उस राजकुमार को, या राजकन्या को अथवा गर्भिणी महारानी को राजसिंहासन पर अभिषिक्त करके राजकार्य को चतुराई से चलाता रहे, और, राजकुमार की विद्या, विनय और अन्य प्रकार की शिक्षा के लिए पूरा प्रयत्न करता रहे।" आचार्य ने इस बात की भी अनुमति दी है कि अमात्य राजकन्या का किसी समान जातीय पुरुष से सम्बन्ध करके उसके पुत्र को अभिषिक्त करे। आगे आचार्य कहता है कि "जब राजकुमार युवा होजाय तो उसकी इच्छा होने पर अमात्य राज्य भार उसे सँभलवा दे, अथवा मामा, फूफा आदि मुख्य व्यक्तियों के अधीन हुए राजा (राजकुमार) को अमात्य इतिहास और पुराणों के द्वारा धर्म अर्थ के तत्वों को समझता रहे। यदि वह इस तरह से न समझा सके तो कपट का आश्रय

लेकर उसे अपने वश में करे।" [1]इस प्रकार कौटल्य ऐसी व्यवस्था करता है जिससे, युवराज के अयोग्य होंने पर भी राजकार्य के समुचित संचालन में कोई बाधा न हो। युवराज राजा के शासन-काल के पश्चात् तो राज्य का उत्तराधिकारी होता ही था। परन्तु वह राजा के शासन-समय में भी राज्य सम्बन्धी विविध कार्यों में भाग लेता था; कभी-कभी किसी प्रान्त का शासक भी होता था। इससे उसको अपने भावी उत्तरदायी पद के लिए समुचित शिक्षा और अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिलता था।

५—दौवारिक—इस शब्द का अर्थ प्रायः चौकीदार या पहरेदार लिया जाता है, परन्तु साधारण चौकीदार या पहरेदारों की महामात्यों में गणना नहीं की जा सकती। अतः दौवारिक से यहाँ राजमहल के निरीक्षक का आशय है। और, इसमें कोई संदेह नहीं, कि मौर्यकाल में यह अधिकारी राजप्रसाद में जाने आने वालों पर बहुत ध्यान रखता था। कौटल्य लिखता है कि राजमहल की चौथी कक्षा (भाग) में राजा की रक्षा दौवारिक हाथ में भाले आदि लिये हुए करें।[2] दौवारिक कई रहते होंगे, यहाँ महामात्यों में प्रधान दौवारिक समझना चाहिए।

६—अन्तर्वंशिक—यह राजा की अंग-रक्षक सेना का प्रधान होता था। मौर्यकाल में राजा को आत्मरक्षा के विषय पर बहुत ध्यान देना होता था, राज पुत्रों से भी अनिष्ट की आशंका रहती थी। अन्य स्थानों की तो बात अलग रही, स्वयं राजमहलों में भी उसे बहुत सतर्क रहना पड़ता था। अन्तर्वंशिक का कार्य और महत्व कौटल्य के निम्नलिखित उद्धरण से विदित हो जायगा। वह यह बतलाकर कि महल के भिन्न-भिन्न भागों में राजा की रक्षा के लिए किस-किस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए, लिखता

[1]कौ० अ० ५।६

[2]कौ० अ० १।२१

है कि 'पिता पितामह के समय से प्राप्त, उच्च कुलों में उत्पन्न, शिक्षित, राजा में अनुरक्त, अच्छी सेवा कर चुकनेवाले पुरुषों को ही राजा अपने समीप रखे, अर्थात् ऐसे आदमियों को ही राजा अपना अंगरक्षक नियुक्त करे। धन सम्पत्ति तथा सत्कार न पाये हुए विदेशी पुरुष को तथा पहले एकबार अपने से भिन्न होकर, फिर आकर मिले हुए अपने देश के पुरुष को भी राजा अपना अंगरक्षक न बनाये। अन्तर्वंशिक की सेना राजा और अन्तःपुर दोनों की रक्षा करे।' आचार्य ने इस बात का सविस्तर वर्णन किया है कि राजा के उपभोग में आनेवाले भोजन वस्त्रादि के पदार्थों की किस प्रकार ऐसी परीक्षा की जाय, जिससे ज्ञात होजाय कि ये विषयुक्त तो नहीं हैं। उसका आदेश है कि अन्तर्वंशिक द्वारा प्राप्त होने और उसकी मोहर लगने के बाद ही राजा उन पदार्थों का सेवन करे।[1]

(७) प्रशास्ता—इस के विषय में अर्थशास्त्र से कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता। 'स्कन्धावार निवेश' प्रकरण में इस का दो जगह उल्लेख आता है। स्कन्धावार युद्ध-भूमि के निकटवर्ती आवास-स्थान अथवा छावनी को कहते है। आचार्य ने लिखा है, सौ-सौ धनुष के फासले पर चार प्रकार की बाड़ राजगृह के चारों ओर उसकी रक्षा के लिए होनी चाहिए। तीसरे घेरे में हाथी श्रेणी बल तथा प्रशास्ता आदि के स्थान बनवाये जायँ। आगे आचार्य लिखता है कि प्रशास्ता सेना आदि के सहित राजा के प्रस्थान करने से पूर्व ही शिल्पी तथा कर्मकर पुरुषों या उनके अध्यक्षों के साथ चला जाय; और मार्ग की हर तरह से रक्षा का, तथा आवश्यक स्थानों से जल आदि का, अच्छी तरह प्रबन्ध करे।[2] इससे विदित होता है कि प्रशास्ता सेना सम्बन्धी एक प्रधान अधिकारी था। श्री० उदयवीर जी शास्त्री ने इसे कंटकशोधनाध्यक्ष

[1] कौ० अ० १।२० और १।२१ [2] कौ० अ० १०। १

लिखा है। श्री० एन. एन. ला का मत है कि इस अधिकारी से उसी तीर्थ का आशय है जिसे महाभारत में 'कारागृहाधिकारी' कहा गया है।

(८) समाहर्त्ता—यह राजकीय आय प्राप्त करनेवाला सर्वोच्च अधिकारी था। आय-प्राप्ति के अतिरिक्त, यह जनपद के शासन सम्बन्धी विविध प्रकार के कार्यों का निरीक्षण भी करता था।[1] आचार्य ने इस विषय में बहुतसी ब्यौरेवार बातें लिखी हैं। इनका परिचय अन्यत्र स्थानीय शासन के प्रसंग में दिया जायगा। समाहर्त्ता के अधीन बहुतसे अधिकारी तथा विविध विभागों के अध्यक्ष कार्य करते थे।[2] यह उनके सम्बन्ध में, तथा कुछ अन्य महत्वपूर्ण अभियोगों का, निर्णय भी करता था। अध्यक्षों में से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

आकराध्यक्ष— खनिज विभाग का मुख्य अधिकारी। सुवर्णाध्यक्ष (धातु शोधन विभाग का अधिकारी), लौहाध्यक्ष, खन्याध्यक्ष, लवणाध्यक्ष इसके अधीन थे।

पण्याध्यक्ष— व्यापार तथा क्रय विक्रय विभाग का अधिकारी।

कुप्याध्यक्ष— जंगल विभाग का अधिकारी।

आयुधागाराध्यक्ष—अस्त्र शस्त्र विभाग का अधिकारी।

यौतवाध्यक्ष— तोल माप विभाग का अधिकारी।

मानाध्यक्ष— भूमि तथा समय के माप विभाग का अधिकारी।

शुल्काध्यक्ष— कर विभाग का अधिकारी।

सूत्राध्यक्ष— वस्त्र और कवच आदि विभाग का अधिकारी।

[1] कौ० अ० २।६ और २।३५

[2] कौ० अ० २।६ से २।३५ तक। अध्यक्षों को आज-कल की भाषा में सुपरिन्टेन्डेन्ट या डायरेक्टर, इन्स्पेक्टर-जनरल कह सकते हैं।
—गोपाल दामोदर तामस्कर

सीताध्यक्ष— कृषि विभाग का अधिकारी। यह राजकीय भूमि पर भी खेती कराता था।

सुराध्यक्ष— आबकारी विभाग का अधिकारी।

सूनाध्यक्ष— बूचड़खाने का अधिकारी।

गणिकाध्यक्ष[1]—वेश्याओं की व्यवस्था करनेवाला अधिकारी। यह राजदरबार की तथा अन्य वेश्याओं का अध्यक्ष था। यह नट, नर्तक, गायक, वादक, भांड या विदूषक, कुशीलव (तमाशगीर), प्लवक (रस्सी पर चढ़कर खेल दिखानेवाले), सौभिक (जादूगर), चारण, और जो स्त्रियों द्वारा अपनी आजीविका कमाते हों उनकी स्त्रियों तथा छिपकर आजीविका कमानेवाली स्त्रियों की आय-व्यय की देख-रेख करता था।

नावध्यक्ष— नाव और जहाज़ विभाग का अधिकारी।

गोऽध्यक्ष— पशु विभाग का अधिकारी।

अश्वाध्यक्ष[2]—घुड़शाला का अधिकारी।

हस्त्यध्यक्ष[2]—हाथी विभाग का अधिकारी।

रथाध्यक्ष[2]—रथ विभाग का अधिकारी।

मुद्राध्यक्ष—मुद्रा विभाग का अधिकारी। जनपद में आने-जाने तथा पदार्थों की आयात निर्यात का नियंत्रण इसी के सुपुर्द था।

---

[1]श्री० जगनलाल जी गुप्त का मत है कि अर्थशास्त्र की प्रकाशित प्रतियों में यह शब्द अशुद्ध है। शुद्ध शब्द 'गणका' होना चाहिए, जिसका अर्थ है, हथियारबन्द स्त्री।

[2]जैसा आगे बताया जायगा, उस समय घोड़े, हाथी और रथों का सेना में बहुत उपयोग होता था। स्थल सेना के चार भागों में पैदल सेना के अतिरिक्त घुड़सवार, हस्ति सेना और रथ सेना होती थी।

विवीताध्यक्ष—गोचर भूमि विभाग का अधिकारी। यह जंगलों की सड़कों का निरीक्षण तथा व्यापारियों के माल की रक्षा करता था।

लक्षणाध्यक्ष—टकसाल विभाग का अधिकारी।

देवताध्यक्ष—देवालय विभाग का अधिकारी।

अध्यक्षों की योग्यता तथा नियुक्ति के सम्बन्ध में आचार्य ने लिखा है कि सब अध्यक्षों को अमात्य के गुणों से युक्त होना चाहिए (अमात्य के गुण पहले बताये जा चुके हैं।), तथा इन्हें इनकी शक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न कार्यों पर नियुक्त किया जाय। कार्यों पर नियुक्त करके राजा इनकी सदैव परीक्षा करवाता रहे।[1]

अध्यक्ष जिन विविध अधिकारियों के साथ मिलकर कार्य करते थे, वे अर्थशास्त्र में निम्नलिखित बतलाये गये हैं—संख्यापक (आय-व्यय का लेखा रखनेवाले), लेखक, रूपदर्शक (राजकीय मुद्रा तथा अन्य मणि मुक्ता और स्वर्ण आदि के खरे खोटेपन को पहचाननेवाले) नीवी ग्राहक (आय व्यय से शेष बचे धन को सँम्भालने वाले) और उत्तराध्यक्ष।[2]

उत्तराध्यक्ष के विषय में कौटल्य ने इसी अध्याय में लिखा है कि हाथी घोड़े तथा रथों पर सवार होने वाले ही उत्तराध्यक्ष बनने चाहिएँ।' इसका स्पष्टीकरण श्री० उदयवीरजी शास्त्री ने इस प्रकार किया है—जो पुरुष वृद्ध तथा अत्यन्त अनुभवी हैं, वृद्ध होने के कारण युद्ध आदि में जाने का सामर्थ्य नहीं रखते, साधारणतया चलने फिरने में भी सवारियों का ही सहारा लेते हैं, ऐसे विशेष व्यक्तियों को उत्तराध्यक्ष अर्थात् अन्य अध्यक्षों का निरीक्षण करने वाला प्रधानाध्यक्ष बनाया जाय।

[1]कौ० अ० २।६

[2]कौ० अ० २।६

९—सन्निधाता—आचार्य ने सन्निधाता के कार्यों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। कुछ मुख्य बातें ये हैं:—सन्निधाता कोषगृह, पण्य-गृह (राजकीय विक्रेय वस्तुओं के रखने का घर), कोष्ठागार (खाद्य वस्तुओं का गोदाम), कुप्य-गृह (जंगल की वस्तुओं का गोदाम) आयुधागार (अस्त्र-शस्त्र भवन), और बन्धनागार (कारागृह) का निर्माण कराये। वह अपने अधीन भिन्न-भिन्न कार्यों और शाखाओं के विशेषज्ञ अधिकारियों की सहायता से परीक्षा करके कोष में नये पुराने रत्न, धातु शुद्ध सिक्के तथा जंगल के पदार्थ आदि ग्रहण करके कोष में रखे। सन्निधाता की योग्यता का अनुमान आचार्य के इस कथन से लगता है कि 'सन्निधाता' को चाहिए कि वह बाहरी तथा भीतरी आय को अच्छी तरह जाने, यहाँ तक कि उससे सौ वर्ष पीछे की भी आय पूछी जाय, तो वह बिना किसी रुकावट के झट कह दे।[1]

कोषगृह, पण्यगृह आदि जिन-जिन विषयों का सन्निधाता निरीक्षण करता था, उनके अध्यक्ष अर्थात् कोषाध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, कोष्ठागाराध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, आयुधागाराध्यक्ष, और बन्धनागाराध्यक्ष इसके अधीन कार्य करते थे। इनमें से पण्याध्यक्ष और कुप्यागाराध्यक्ष का उल्लेख 'समाहर्ता' के अधीन कार्य करनेवाले अध्यक्षों में हो चुका है। इनका सम्बन्ध समाहर्ता और सन्निधाता दोनों से था।

१०—प्रदेष्टा—यों तो प्रत्येक 'कंटकशोधन' नामक न्यायालय का न्यायाधीश 'प्रदेष्टा' कहलाता था,[2] परन्तु यहाँ इस प्रकार के सब न्यायालयों के प्रधान न्यायाधीश से अभिप्राय है। इन न्यायालयों के विषय में, विशेष रूप से आगे न्याय के प्रसंग में लिखा जायगा, इन्हें कुछ अंश में फौजदारी अदालत कह सकते

[1] कौ० अ० २।५ [2] कौ० अ० ४।१

हैं। प्रदेष्टा न्याय सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी करता था कौटल्य ने लिखा है कि 'समाहर्ता और प्रदेष्टा पहले अध्यक्ष और उनके अधीन पुरुषों का नियमन करें। जो कर्मचारी खान आदि से बहुमूल्य रत्न आदि, तथा चन्दन अगर आदि के कारखानों से चन्दन अगर आदि चुरावें, उन्हें प्राण दंड दिया जाय।'[1] इससे स्पष्ट है कि प्रदेष्टा समाहर्ता के साथ मिलकर अध्यक्षों आदि की नियुक्ति भी करता था तथा सर्वसाधारण एवं राज कर्मचारियों को चोरी और रिश्वत आदि विविध अपराध करने से रोकता था।

११—नायक—यह सेना का मुख्य संचालक था, और आवश्यकतानुसार विविध प्रकार की छावनियाँ, खाई, सफील (शहरपनाह दीवार), और अटारी आदि बनवाता था। कौटल्य ने इस विषय की कुछ ब्यौरेवार बातें लिखी है। वह यह भी कहता है कि सेना के सबसे अगले हिस्से में नायक को चलना चाहिए।[2] श्री० उदयवीरजी शास्त्री ने नायक का अर्थ सूबेदार किया है।

१२—पौरव्यावहारिक—यह सम्भवत: 'धर्मस्थीय' नामक अदालतों का मुख्य न्यायाधीश था। इन अदालतों के विषय में विशेष आगे कहा जायगा। यह साधारण अदालतें थीं, जिनका अधिकतर कार्य दीवानी मुकदमों के सम्बन्ध में होता था। श्री० उदयवीर जी ने पौरव्यावहारिक का अर्थ नगर का मुखिया या वकील किया है।[3] श्री० एन० एन० ला ने इसे महाभारत के

[1]कौ० अ० ४।६

[2] कौ० अ० १०।१, १०।१, इस पुस्तक का बारहवाँ अध्याय (सेना और युद्ध) देखिए।

[3]कौ० अ० ६।१, श्री० सत्यकेतु जी ने 'पौर' को व्यवहारिक से पृथक करके उसे 'नागरिक' के समान अधिकारी कहा है। उनके मत से 'पौर पुर या राजधानी का शासक था।

धर्माध्यक्ष नामक तीर्थ के समान बताया है।

१३—कार्मान्तिक—यह अधिकारी खान, जंगलों और खेतों से मिलनेवाले कच्चे पदार्थों का तैयार माल बनानेवाले विविध प्रकार के करखानों का प्रधान निरीक्षक तथा संचालक था; इस के अधीन बहुत से कर्मचारी थे।[1]

१४—मंत्रिपरिषदाध्यक्ष—मंत्रिपरिषद् के विषय में पहले लिखा जा चुका है; उस का अध्यक्ष भी महामात्यों में गिना जाता था।

१५—दंडपाल—इसके विषय में अर्थशास्त्र में विशेष उल्लेख नहीं मिलता। श्री० सत्यकेतु जी विद्यालंकार ने लिखा है कि 'इस का काम सेना की स्थिति सम्पादित करना है, सेना की सब आवश्वकताओं का पूरा करना है, उसके लिए सब भांति का प्रबन्ध करना है।'

१६—दुर्गपाल—इसे राज्य के भीतरी दुर्गों अर्थात् क़िलों पर अधिकार रहता था। प्राचीन काल में रक्षा के विचार से अनेक नगर दुर्गात्मक बनाये जाते थे, इस से नगरों के लिए 'दुर्ग' शब्द भी प्रयोग में आया है। जनपद के बीच में भी आवश्यकतानुसार दुर्ग होते थे! कौटल्य ने दो अध्यायों में दुर्गों के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार किया है।[2]

१७—अन्तपाल—यह सीमा-प्रदेश का रक्षासम्बन्धी प्रधान अधिकारी था। देश की सीमाओं का सदैव बहुत महत्व रहता है, और उनकी रक्षा के लिए यथेष्ट आयोजन पड़ता है। अन्तपाल के सम्बन्ध में कौटल्य ने लिखा है कि राजा 'राज्य की सीमा पर इस अधिकारी द्वारा अधिष्ठित दुर्गों की स्थापना करे, तथा जनपद के द्वार-भूत स्थानों की स्थापना करे, जिनका अधिष्ठाता अन्तपाल ही हो। उनके मध्य भागों की रक्षा व्याध, शबर, पुलिन्द, चांडाल तथा

[1]कौ० अ० २।१२ [2]कौ० अ० २।३ और २।४

अन्य जंगलों में फिरने (या रहने) वाली जातियों के आदमी करें।" सीमाओं पर बनवाये हुए तरह-तरह के दुर्गों पर मुख्य अधिकार अन्तपाल को ही होता था।[१]

१८—आटविक—यह जंगलों तथा जंगली जातियों पर देख-रेख रखनेवाला प्रधान अधिकारी था। अर्थशास्त्र में सेना के अन्यान्य भेदों में 'अटवी बल' का भी उल्लेख हुआ है; इस का अभिप्राय जंगल में रहनेवाली सेना, अथवा जंगल की रक्षा करनेवाले अधिकारियों के उपयोग में आनेवाली सेना है[२] मौर्यकाल में यहाँ जंगल खूब थे, और जंगली जातियों को यथा सम्भव अधीन रखने के लिए विशेष योजना करनी पढ़ती थी। इस लिए 'आटविक' पद बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण था।

सरकारी विभाग—पहले कहा जा चुका है हिन्दू राजतंत्र में अति प्राचीन काल से अठारह उच्च पदाधिकारी माने जाते रहे हैं। इस परम्परा का कारण सम्भवतः यह है कि इनके सुपुर्द किये हुए कार्यों में राज्य के सभी महत्वपूर्ण विभागों का समावेश होजाता है और उनसे समस्त अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। जैसा कि इन पदाधिकारियों के परिचय से ज्ञात हो जाता है, इन से राज की रक्षा और सहायता, राजकार्यों के विषय में मन्त्रणा, राज्य की शान्ति, सुरक्षा, विस्तार, शासन, न्याय, राज्य और प्रजा की विविध आवश्यकताओं के पदार्थों को संग्रह करना तथा कारखानों में तैयार करना, राजकरों की प्राप्ति और उनका जनता की सुख समृद्धि तथा सुविधाओं के लिए उपयोग किया जाना इत्यादि सब कार्यों का सम्यक् सम्पादन हो जाता है। राज्य के कार्यों के विषय में विस्तार से अन्यत्र लिखा जाचुका है।

---

[२] कौ० अ० २।१ [३] कौ० अ० २।३३

आधुनिक पाठकों को राज्य का कार्य उपर्युक्त विभागों में विभाजित होना बहुत विचित्र सा प्रतीत होगा। यह कहा जा सकता है, कि इन विभागों में से कई विभाग अनावश्यक हैं, कुछ विभाग इकट्ठे किये जाकर उनका कार्य एक ही पदाधिकारी के सुपुर्द रखा जा सकता है, इत्यादि। ऐसी आलोचना करनेवाले सज्जनों को देश काल का सम्यक् विचार करना चाहिए। शासन-पद्धति के पाठक जानते हैं, किस प्रकार भारतवर्ष या इंगलैंड आदि में समय-समय पर मंत्रिमंडल के सदस्यों तथा उनके सुपुर्द विभागों में परिवर्तन होता रहता है।

सरकारी कार्यालयों की सुव्यवस्था—कौटल्य ने राज्य सम्बन्धी सब आवश्यक बातों के, नितान्त शुद्ध रूप में तथा विधि-पूर्वक, लिखे जाने पर बहुत जोर दिया है। पहले बताया जा चुका है कि प्रत्येक अध्यक्ष के साथ एक 'लेखक' भी रहता था। आचार्य का कथन है कि राजकीय लिखित आज्ञाओं पर ही शासन-कार्य अवलम्बित है, संधि विग्रह आदि का मूल राजकीय आज्ञाएँ ही हैं। इसलिए अमात्य के गुणों से युक्त हर प्रकार के आचार विचार को जानने वाले राजकीय ग्रन्थों से पूर्ण परिचित, सुन्दर, लेख लिखने वाले, विविध प्रकार के लेखों को पढ़ने-लिखने में समर्थ व्यक्ति को 'लेखक' नियत किया जाय। वह लेखक सावधान होकर, राजा के संदेश को अच्छी तरह सुनकर निश्चित अर्थ वाले लेख लिखे।[१] इस पदाधिकारी के कार्य तथा पूर्वोक्त बातों को ध्यान में लाने से स्पष्ट मालूम होता है कि कौटल्य ने राजकीय कार्यालयों की सुन्दर व्यवस्था की थी।

---

[१] कौ० अ० २।१०

आठवाँ अध्याय

पौर जानपद

'अर्थशास्त्र' में 'पौर जानपद' का अनेक प्रसंगों में उल्लेख आया है। आचार्य ने इन के नियमों तथा निर्णयों को बहुत महत्व दिया है। अतः इन के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इस विषय की पहली विचारणीय बात यह है कि इन शब्दों का अर्थ क्या है; कारण कि इस विषय में कौटल्य के अनुवादकों और टीकाकारों में मतभेद है। अभी तक प्रायः इन का अर्थ नगर निवासी और ग्राम निवासी किया जाता रहा है। हमें प्राचीन साहित्य के आधार पर, तथा स्वयं कौटल्य के विविध प्रयोगों को विचार कर इन का आशय लेना चाहिए। श्री० जायसवाल जी ने अपने ग्रन्थ में इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है और वे तथा बहुत-कुछ उनके द्वारा संकलित प्रमाणों के आधार पर श्री० सत्यकेतु जी विद्यालंकार तथा अन्य विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वास्तव में 'पौर जानपद' पारिभाषिक शब्द हैं और इन नामों की यहाँ सुसंगठित संस्थाएँ थी। इनका मुख्य कार्य व्यवस्था सम्बन्धी था। इन्हें तत्कालीन भारतवर्ष का व्यवस्थापक मंडल कहा जा सकता है।[1]

[1]अन्यान्य लेखकों में श्री० विनयकुमार सरकार ने भी इस मत का, श्री० जायसवाल जी का—खंडन किया है; परन्तु सब बातों का विचार करके हमें उसका समर्थन ही करना होता है; हाँ, जैसा कि हम आगे इन संस्थाओं के सदस्यों के सम्बन्ध में लिखेंगे, हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि उस समय व्यवस्थापक मंडल का संगठन पूर्णतया आज कल की शैली पर था।

'पौर' और 'जानपद' का उदय—वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर, प्रजा की प्रतिनिधि-स्वरूप 'समिति' का उल्लेख मिलता है। विशाल राज्यों, या साम्राज्य के युग में इस संस्था का लोप हो गया। महाभारत में, तथा पाली ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता। बात यह है कि समिति का मूल आधार जातीयता थी, यह एक-एक जाति के ही राज्यों की व्यवस्थापक सभा थी। साम्राज्य के उदय होने पर जातीयता के भाव का ह्रास हुआ तो समिति का भी लुप्त होजाना स्वाभाविक था। इसके स्थान पर दूसरी संस्थाओं "पौर" और "जानपद" का उदय हुआ; ये संस्थाएँ प्राचीन 'समिति' का ही रूपान्तर थीं।

ई० पू० ६०० से सन् ६०० ई० तक भारतवर्ष में राज्य के दो भाग माने जाते थे, राजधानी और जनपद। राजधानी को पुर या नगर भी कहा जाता था (पुरं मुख्य नगरम्: नगरं राजधानी)। राजधानी को छोड़कर शेष राज्य की समस्त भूमि—वह ग्राम हो या नगर—जनपद कहलाती थी। 'पौर' पुर या राजधानी की सभा थी, वह राज्य के समस्त नगरों के निवासियों की सभा न थी। इसी प्रकार 'जानपद' जनपद की अर्थात् राजधानी को छोड़कर शेष देश की सभा होती थी। 'जानपद' का अर्थ 'प्रान्त', या 'नगर के बाहर रहनेवाले' न था। अर्थशास्त्र में दूसरे अधिकरण का पहला अध्याय 'जनपद निवेश' शीर्षक है। इसमें बताया गया है कि जनपद में ग्रामों के अतिरिक्त 'स्थानीय' 'द्रोणमुख' आदि दुर्गों या नगरों की भी किस प्रकार स्थापना की जाय। इससे स्पष्ट है कि कौटल्य के अनुसार 'जनपद' में केवल ग्रामों का ही समावेश नहीं होता, नगरों का भी होता है।

'जानपदा:' समष्टि रूप से जनपद की प्रजा का द्योतक है; और उसकी संगठित प्रतिनिधि संस्था का भी सूचक है।

कौटल्य ने पौर तथा जानपद सभाओं के संगठन तथा

कार्यपद्धति आदि के विषय में विशेषतया क्रमबद्ध प्रकाश नहीं डाला। सम्भव है इनका कार्य व्यापक होने के कारण सर्वसाधारण को उस समय इनके सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी हो, इसलिए अर्थशास्त्र में जहाँ-तहाँ प्रसंगानुसार ही इनका उल्लेख कर देना पर्याप्त समझा गया हो।

पौर जानपद का व्यवस्था सम्बन्धी कार्य—अर्थशास्त्र में पौर तथा जानपद दोनों संस्थाओं का प्रायः साथ-साथ ही उल्लेख हुआ है। इससे मालूम होता है कि दोनों का देश की शासन-व्यवस्था में सहयोग होता था। यद्यपि पौर प्रान्तीय राजधानियों में अकेले ही व्यवस्था कार्य करती थी, महत्वपूर्ण राष्ट्रीय विषयों पर दोनों संस्थाओं में विचार होना आवश्यक था। दोनों संस्थाएँ समान समझी जाती थीं। जानपद का भी सभा-भवन राजधानी में ही होने से यह घनिष्टता और भी अधिक होनी स्वाभाविक थी। विवि[illegible]ों के आधार पर श्री० जायसवाल जी ने इन संस्थाओं के व्यवस्था सम्बन्धी सम्मिलित कार्य मुख्यतया निम्नलिखित बतलाये हैं :—

(१) युवराज की नियुक्ति पर विचार।

(२) राजा का अभिषेक करना, अयोग्य व्यक्ति को राजा न बनने देना और अन्यायी राजा को सिंहासन से उतारना।

(३) प्रधानमंत्री को निर्वाचित करना तथा उसके व्यवहार पर दृष्टि रखना।

(४) राजनीति सम्बन्धी विषयों का विचार, तथा विशेष अवस्थाओं में असाधारण करों की स्वीकृति।

उपर्युक्त अन्तिम कार्य सम्बन्धी प्रमाण तो 'अर्थशास्त्र' में भी पर्याप्त रूप से मिलता है। कोष-वृद्धि अर्थात् आर्थिक संकट-निवारण के प्रसंग में कौटल्य लिखता है कि 'समाहर्ता प्रयोजन बतलाकर पौर जानपद से धन मांगे। ''राजा पौर जानपद से

याचना करे।"[1] इससे स्पष्ट है कि जो कर धर्मशास्त्र के अनुसार परम्परा से चले आते थे, उनसे यदि राज्य की आवश्यकता की पूर्ति न होती, तो राजा को पौर जानपद का आश्रय लेना पड़ता था; वह अपनी इच्छा से, मनचाहा कर नहीं लगा सकता था। राष्ट्रीय आय पर पौर जानपद का यह नियंत्रण इन संस्थाओं की महान शक्ति का द्योतक है।

स्मरण रहे कि उस समय व्यवस्थापक संस्थाओं को आज कल की भांति नित्य नये नियम के निर्माण या पूर्व स्वीकृति नियमों के संशोधन परिवर्द्धन आदि का कार्य नहीं करना होता था। नियमों या कानूनों का उद्गम स्थान राजसत्ता न मानी जाकर धर्मशास्त्र माने जाते थे। धर्मशास्त्र के आदेशों में फेर-बदल करने का अधिकार राजा या व्यवस्थापक सभा को नहीं था; हाँ, जब कभी उनके समझने में कुछ संदेह होता था, तो ग्रामवृद्ध तथा नगरवृद्धों की राय ली जाती थी, जिन में केवल ब्राह्मण ही नहीं, अन्य वर्णों के भी सज्जन होते थे।

पौर जानपद के सदस्य—पौर जानपद के सदस्य किस योग्यता के होते थे, अर्थात् किस आयु अथवा सम्पत्ति या शिक्षा और अनुभव आदि सम्बन्धी योग्यतावाले व्यक्ति इन संस्थाओं में भाग ले सकते थे, इसका अर्थशास्त्र में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।

[1] कौ० अ० ५।२; श्री० उदयवीर जी शास्त्री ने अन्यान्य स्थानों की भांति यहां भी पौर जानपद का अर्थ नगर निवासी और प्रान्त निवासी, तथा श्री० शाम शास्त्री ने नगर निवासी और ग्राम निवासी (Country people) किया है। समाहर्ता और राजा का राष्ट्र-संकट के समय व्यक्तियों से धन मांगना हमें तत्कालीन अवस्था में, सुव्यवस्थित शासनपद्धति में, ठीक नहीं जचता। उक्त लेखक पौर जानपद का ऐसा आशय न लेते, यदि वे इस दृष्टिकोण से विचार करते, तथा इन शब्दों का प्राचीन साहित्य में जो प्रयोग हुआ है, उसका यथेष्ट विचार करते।

तथापि ग्रामवृद्ध और नगरवृद्ध शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट है। बड़े बूढ़े तथा अनुभवी सज्जन ही इन संस्थाओं के सदस्य होते होंगे। आज कल भी देखने में आता है कि पंचायत के सदस्यों में प्रौढ़ता या वयस्कता का होना तो अनिवार्य माना जाता है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति या शिक्षा आदि की कसौटी नहीं रखी जाती। हाँ, आज कल कहीं-कहीं पंचायत की सदस्यता पैत्रिक होगयी है, ऐसा उस समय न होगा। कहने की आवश्यकता नहीं उक्त संस्थाओं के लिए उस समय आज-कल की भांति निर्वाचन या चुनाव न होता था। मत ('वोट') लेकर निर्वाचन करने की पद्धति उस समय प्रचलित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

पौर जानपद के मत का महत्व—अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि राजा को पौर जानपद के कार्य और विचारों पर पर्याप्त ध्यान देना पड़ता था। राजा की दिनचर्या में यह बताया जा चुका है कि उसे हर रोज दिन के दूसरे हिस्से में पौर जानपद के कार्यों का निरीक्षण करना होता था।[1] इस के अतिरिक्त पौर जानपद का शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में क्या मत है, यह जानने के लिए भी उसे यथेष्ट ध्यान देना होता था। कौटल्य लिखता है कि "(राजा) पौर जानपद के पास (उनके अनुराग अपराग को जानने के लिए) गुप्तचर पुरुषों को नियुक्त करे। गुप्तचर (१) 'तीर्थ सभा शाला समवाय' में (२) 'पूग समवाय' में और (३) 'जन समवाय' में जाकर आपस में वाद विवाद आरम्भ करें।"[2] मालूम होता है कि तीर्थ सभा, शाला, समवाय और पूग समवाय 'पौर' की उपसमितियाँ थी, जिन में से पहली, तीर्थ-स्थानों और राष्ट्रीय इमारतों का निरीक्षण करती थी, और दूसरी, व्यापर और दस्तकारी आदि की देख-भाल करती थी। 'जन समवाय' जानपद या सार्वजनिक सभा थी।

[1] कौ० अ० १।१९   [2] कौ० अ० १।१३

आगे कौटल्य बतलाता है कि पौर जानपद के सदस्यों के मनोभावों को जानने के लिए गुप्तचरों के वाद-विवाद का ढंग कुछ इस प्रकार से हो—"एक यह कहे कि 'यह राजा सर्वगुणसम्पन्न सुना जाता है, परन्तु इसका कोई गुण दिखायी नहीं देता। यह तो पौर जानपद को दण्ड[1] और करों से सताता है। तदनंतर वहाँ राजा की निन्दा करनेवाले अन्य पुरुषों को तथा पूर्व निन्दक गुप्तचर को रोक कर दूसरा गुप्तचर यह कहे कि 'देखो मात्स्यन्याय की स्थिति (जिसमें बलवान निर्बलों को इस प्रकार सताते हैं, जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को) से तंग आकर प्रजा ने विवस्वान के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया। धान्य का छठा हिस्सा और व्यापार की आमदनी का दसवाँ हिस्सा सुवर्ण (नकदी) उसे देना स्वीकार किया। इस (वेतन) को ग्रहण करते हुए राजाओं ने प्रजा के योगक्षेम का भार अपने ऊपर लिया।'......इत्यादि बातें कह कर लोगों को राजा की निन्दा करने से रोक देवे।"[2]

इससे स्पष्ट है कि पौर जानपद के मत तथा कार्यों का यथेष्ट महत्व था, और राजा उनसे निरन्तर परिचित रहने का प्रयत्न करता था।

पौर के कुछ अन्य कार्य—व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त 'पौर' को राष्ट्र सम्बन्धी कुछ अराजनैतिक विषयों के भी महत्व-पूर्ण अधिकार थे। श्री० जायसवाल जी ने विविध ग्रन्थों के आधार पर उसके निम्नलिखित कार्यों का विचार किया है:—

१—अनाथ बालकों की रक्षा, और उन मनुष्यों के द्रव्य का प्रबन्ध, जिनका देहान्त हो गया हो।

२—ऐसे कार्यों का प्रबन्ध जिनसे प्रजा का विविध प्रकार का बल बढ़ता था। ये कार्य 'पौष्टिक कार्य' कहे जाते थे।

[1]श्री जायसवाल जी ने दंड का अर्थ सेना सम्बन्धी माँग किया है।
[2]कौ० अ० १।१३

३—ऐसे कार्य जिनसे प्रजा में शान्ति रहे।

४—न्याय सम्बन्धी कार्य, विशेषतया दीवानी मामलों का।

५—तीर्थ स्थानों तथा मन्दिर और बाग बगीचे तथा स्नानागार आदि सार्वजनिक भवनों का निरीक्षण और जीर्णोद्धार।

श्री० जायसवाल जी ने पौर जानपद का एक और भी कार्य बतलाया है, वह है राजकीय मुद्रणशाला में सिक्के ढलवाना और इस प्रकार सरकारी टकसाल के कार्य पर नियंत्रण रखना, वहाँ तैयार होने वाले सिक्कों की संख्या, तोल और शुद्धता की देख-रेख करना। परन्तु इस विषय का जो निर्देश उन्होंने कौटल्य के अर्थशास्त्र (२।१४।१) का किया है, उसमें सौवर्णिक (भूषणादि का अधिकारी) शब्द आया है, 'लक्षणाध्यक्ष' नहीं आया, जो अर्थशास्त्र में टकसाल का अधिकारी कहा गया है। पुनः वह प्रकरण भी 'विशिखा (सर्राफे) में सौवर्णिक का व्यापार' शीर्षक है। अस्तु, हमें श्री० जायसवाल जी का उक्त कथन ठीक नहीं जँचता। यहाँ मूल पाठ के 'पौर जानपद' को यदि जनता के अर्थ में लिया जाय तो हमारी सम्मति में कोई आपत्ति न होगी। इस प्रकार उक्त पाठ का अर्थ यह होगा कि सौवर्णिक अर्थात् आभूषण आदि का राजकीय अधिकारी जनता के सोने चाँदी के आभूषण शिल्पशाला में काम करनेवाले सुनारों के द्वारा तैयार कराये।

विशेष वक्तव्य—पौर और जानपद के कार्यों तथा अधिकारों का सम्यक् विचार करने से यह भली भाँति मालूम हो जाता है कि सर्वसाधारण जनता की ये प्रतिनिधि संस्थाएँ शासन-यंत्र को अनियमित गति से रोकती हुई, राजा तथा प्रत्येक राज्य कर्मचारी को धर्म और कानून के अनुसार चलने को बाध्य करती रहती थीं। ये राज्य को बना और बिगाड़ सकती थीं। अन्य अधिकारियों की तो बात ही क्या, स्वयं राजा को इन संस्थाओं को

प्रसन्न रखने और इन के पथ-प्रदर्शन के अनुसार चलने के लिए सतर्क रहना पड़ता था। और, इन संस्थाओं को प्रसन्न रखने का अभिप्राय है, सर्वसाधारण जनता अर्थात् समस्त प्रजा को प्रसन्न करना। इस प्रकार राजा केवल नैतिक दृष्टि से ही नहीं, राजनैतिक कारणों से भी प्रजा की सेवा और उन्नति करने के लिए वाध्य था।

नवाँ अध्याय

स्थानीय शासन

राज्य के भाग—पिछले अध्यायों में अर्थशास्त्र के अनुसार, केन्द्रीय शासन के विषय में लिखा गया है। स्थानीय शासन सम्बन्धी, आचार्य के विचारों का परिचय देने से पूर्व उसके प्रान्तीय शासन सम्बन्धी विचार देना आवश्यक है। कौटल्य ने इस विषय पर बहुत ही कम प्रकाश डाला है; तथापि उसने शासन-कार्य के लिए राज्य को कुछ भागों में अर्थात् प्रान्तों में विभक्त करने की सूचना दी है। उसने लिखा है कि समाहर्ता को चाहिए कि जनपद को चार भागों में विभक्त करे।[1] हम पहले कह आये हैं कि समाहर्त्ता राज्य की आय एकत्र करनेवाला तथा जनपद के शासन का निरीक्षक था। इस प्रकार राज्य के उक्त भाग आय-प्राप्ति के अतिरिक्त शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से भी बतलाये गये हैं।[2] आचार्य ने राज्य के इन चार भागों के नाम या सीमा आदि नहीं बतलायी। अशोक के समय में पांच प्रान्तों के होने का प्रमाण मिलता है :—(१) पश्चिमोत्तर प्रान्त (राजधानी तक्षशिला), (२) मध्य भारत (राजधानी उज्जैन), (३) दक्षिण भारत (राजधानी सुवर्णगिरी), (४) मगध (राजधानी पाटलीपुत्र) और (५) कलिंग (राजधानी तोषणी)। इनमें

[1] कौ० अ० २।३५

[2] हम देखेते हैं कि आज-कल भी भारतवर्ष को जो जिलों में विभक्त किया हुआ है, इसमें लगान वसूली तथा शासन प्रबन्ध दोनों दृष्टियाँ हैं। ज़िले के शासक को मजिस्ट्रेट के अतिरिक्त कलेक्टर भी कहते हैं, जिसका अर्थ ही (लगान) वसूल करनेवाला है।

कलिंग को अशोक ने विजय करके अपने राज्य में मिलाया था। अतः प्रतीत होता है कि कौटल्य ने जिन चार भागों का उल्लेख किया है, वे कलिंग को छोड़कर वे ही चार प्रान्त थे, जो ऊपर अशोक के समय के बतलाये गये हैं।

प्रान्तीय शासन—कौटल्य ने राज्य के चार भागों को 'स्थानीय' और इनमें से एक-एक के प्रधान शासक को 'स्थानिक' कहा है।[1] प्रायः प्रान्तीय शासक अर्थात् स्थानिक का कार्य राजकुमार तथा राजघराने के अन्य व्यक्ति करते थे। सीमाप्रान्त का अधिकारी अन्तपाल होता था, यह जंगली जातियों का नियंत्रण करता और क़िले आदि बनवाता था।

प्रान्तीय शासक के नीचे 'राजुक' और 'प्रादेशिक' पदाधिकारी बतलाये गये हैं। सम्भवतः इनका पद आज-कल के कमिश्नरों की तरह होगा। इनके नीचे 'युक्त' और 'उपयुक्त' पदाधिकारी आते हैं, यह आधुनिक कलेक्टर, डिप्टीकलेक्टर की तरह के मालूम होते हैं, जिनका कार्य अर्थ-संग्रह सम्बन्धी हो। आचार्य लिखता है कि 'जिस प्रकार पानी में रहती हुई मछलियाँ पानी पीती हुई नहीं मालूम होतीं, उसी प्रकार कार्यों पर नियुक्त हुए 'युक्त' नामक अधिकारी धन का अपहरण करते हुए मालूम नहीं होते।'[2]

प्रान्तों के भाग द्रोणमुख, संग्रहण आदि के विषय में आगे विचार किया जायगा।

स्थानीय शासन का महत्व—भारतवर्ष अपनी स्थानीय संस्थाओं के लिए चिरकाल से प्रसिद्ध है, यहाँ की ग्राम और नगर संस्थाएँ अन्य देशों की इस प्रकार की संस्थाओं से कहीं पुरानी या वयोवृद्धि है। और, वास्तव में उन्होंने इस देश की न केवल राजनैतिक

[1] कौ० अ० २।३५; नगर के चतुर्थ भाग के प्रबन्धक को भी अर्थशास्त्र में 'स्थानिक' ही कहा गया है (कौ० अ० २।३६)

[2] कौ० अ० २।६

दृष्टि से वरन् संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से भी रक्षा करने में महत्वपूर्ण भाग लिया है। भारतीय शासन व्यवस्था पर कितने ही घोर आक्रमण हुए, समय-समय पर, यहाँ कितनी ही क्रान्तियाँ हुईं, अनेक प्रकार से उथल-पुथल मची, फिर भी भारत वर्ष इतने सुदीर्घ काल तक, तथा इतनी मात्रा में अपनी संजीवनी शक्ति रख सका; इसका विशेष कारण यहाँ की ग्राम और नगरों की यशस्वी संस्थाएँ ही हैं।

कौटल्य और स्थानीय शासन—यद्यपि अर्थशास्त्र में स्थानीय शासन संस्थाओं के सम्बन्ध में बहुतसी उपयोगी बातें बतायी गयी हैं, आचार्य ने इनके स्वरूप का ब्यौरेवार विवेचन नहीं किया। बात यह है कि प्राचीन काल में स्थानीय संस्थाएँ केन्द्रीय शासन और नियंत्रण से मुक्त थीं और लगभग पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग करती थीं, परन्तु ज्यों-ज्यों राज्यों का विस्तार होता गया, स्थानीय प्रबन्ध-कार्य के लिए पृथक् व्यवस्था की आवश्यकता होने लगी, यहाँ तक कि क्रमशः केन्द्रीय शासन का बल बढ़ने लगा और कौटल्य के समय तक केन्द्रीकरण की क्रिया ने पर्याप्त प्रगति करली। राज्य सम्बन्धी प्रत्येक विषय केन्द्रीय हो गया या होने लगा। इसमें स्वयं कौटल्य का खासा भाग रहा है। तथापि अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि स्थानीय संस्थाएँ उस समय बहुत शक्तिशाली थीं।

गाँव की आबादी, सीमा आदि—इस विषय की अन्य बातों की चर्चा करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि आचार्य की, गाँव के क्षेत्र सम्बन्धी कल्पना क्या थी। वह 'जनपद निवेश' प्रकरण में पुराने या नये जनपद को बसाने के विषय में लिखता है कि जिस में शूद्र और किसान ही प्रायः अधिक हो, ऐसे कम-से कम सौ घर वाले और अधिक से अधिक पाँच सौ घरवाले गाँव को बसावे। एक गाँव का दूसरे से एक कोस या दो कोस का

फासला होना चाहिए। ये इस तरह बसाये जावें कि अवसर आने पर एक दूसरे की सहायता कर सकें। नदी, पहाड़, जंगल, बेरी के वृक्ष, शमी (छोंकरा) के वृक्ष तथा बड़ आदि वृक्षों के द्वारा उन गाँवों की स्थापना करे। आठ सौ गाँवों के बीच में एक 'स्थानीय' की स्थापना करे, चार सौ गाँवों के समूह में द्रोणमुख, दो सौ गाँवों में खार्वटिक, और दस गाँवों का संग्रह करके संग्रहण नाम के स्थान विशेष की स्थापना करे।[1]

संग्रहण एक बड़ा गाँव या छोटासा कस्बा, और खार्वटिक एक बड़ा कस्बा या छोटा नगर होता होगा। सम्भवत: आज-कल की भाषा में द्रोणमुख को तहसील और स्थानीय को जिला कह सकते हैं।

ग्रामों का वर्गीकरण—आचार्य ने राजकीय आय के विचार से ग्रामों के चार भेद बतलाये हैं। वह लिखता है कि समाहर्ता को चाहिए कि वह जनपद को चार भागों में विभक्त करके, फिर उनमें ज्येष्ठ मध्यम कनिष्ट की पल्पना करके ग्रामों को (उनकी पृथक्-पृथक् मनुष्य-गणना, और सामुहिक गणना, प्रत्येक गाँव का पृथक्-पृथक् क्षेत्रफल और सम्पूर्ण एक वग का क्षेत्रफल तथा उनकी भौगोलिक परिस्थित को) 'यह इतना है, इस प्रकार अपनी पुस्तक में लिख लेवे (१) जो गाँव दान में देदिये हों, अर्थात् जिनसे राज्य को किसी प्रकार की आय न हो उन गाँवों को अलहदा लिख लेवे (२) इसी प्रकार जो गाँव सैनिक पुरुष दें (अर्थात् सेना में भरती होने के लिए प्रति वर्ष नियत संख्यक पुरुष दें), तथा (३) जो धान्य (अन्नादि) पशु (गाय घोड़ा आदि), हिरण्य (सोना चांदी या उसके सिक्के), कुप्य (जंगल के मिलनेवाले पदार्थ) और (४) विष्टि (नौकर चाकर) आदि के रूप में प्रति वर्ष नियत कर देवें, उनको भी पृथक्-पृथक् अपनी पुस्तक में लिख लेवे।[2]

[1] कौ० अ० २।१ [2] कौ० आ०-२।३५

इस से विदित होता है कि कितने ही गाँव ऐसे होते थे जो राज्य को किसी प्रकार का कर नहीं देते थे। बात यह है कि उन दिनों ऋत्विक आचार्य, पुरोहित और श्रोत्रियों को ऐसी भूमि दी जाती थी जिसकी सम्पूर्ण आय का वे स्वयं ही उपभोग करते थे, वे जनता की शिक्षा आदि के रूप में सेवा करते थे, और राज्य उन्हें निर्वाह के लिए धन-प्राप्ति के कार्य से निश्चिन्त रखता था। विविध राजकीय विभागों के अध्यक्षों तथा अन्य कर्मचारियों को भी निर्धारित समय के लिए बिना लगान की भूमि दी जाती थी।

आचार्य के उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार, राजकर देनेवाले गाँवों के तीन भेद किये जा सकते हैं, (१) योद्धा देनेवाले, (२) अन्न पशु या सुवर्ण आदि देनेवाले, और (३) कर के बदले सरकारी काम करनेवाले। पाँच-पाँच या दस- दस गाँवों का प्रबन्ध 'गोप' करता था -

गोप के कर्तव्य—आचार्य लिखता है कि गोप निम्नलिखित हिसाब रखे[1] :—

(१) गाँव की निश्चित सीमा।

(२) भूमि के भाग जैसे उपजाऊ भूमि, परती भूमि, स्थल अर्थात खाली पड़ी हुई भूमि, केदार अर्थात् दलदल, आराम (बाग), सब्जी के खेत, बाट (रास्ता), वन, वास्तु (मकान), चैत्य,[2] देवगृह अर्थात् मंदिर, सेतुबन्ध (तालाब और बाँध आदि) स्मशान, सत्र (भोजनालय), प्याऊ, तीर्थस्थान, चरागाह, विविध प्रकार के मार्ग। खेत के परिमाण के साथ, जो वस्तु वहाँ हो, तथा खेतों की मर्यादा (उनके चारों ओर के चिन्ह)।

(३) अरण्य (ऐसे जंगल जो ग्रामवासियों के काम न आते हों) तथा खेतों में जाने-आने के मार्ग।

[1] कौ० अ० २।३५

[2] इसका अर्थ श्री० उदयवीर जी ने 'संकेत के वृक्ष' लिखा है।

(४) खेतों की बिक्री, दान और माफ़ी तथा राजकीय सहायता का हिसाब।

(५) मकानों का हिसाब, कर देनेवालों और कर न देनेवालों के विचार से।

(६) गाँव के घरों में कितने मनुष्य, किस-किस जाति के रहते है, कितने किसान, गोपालक (ग्वाले), व्यापारी शिल्पी, कर्मकर (मजदूर) और दास हैं।

(७) पशुओं की संख्या।

(८) किस गाँव से कितने सोने-चाँदी, कितने नौकर चाकर, कितने शुल्क और दंड (जुर्माना) की आय होती है।

इस के अतिरिक्त आचार्य का कथन है कि गोप को चाहिए कि वह प्रत्येक परिवार से सम्बन्धित स्त्री पुरुषों, बालकों वृद्धों की संख्या, उनके काय, चरित्र, आजीविका और व्यय आदि के सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी रखे। जैसा कि श्री० तामस्कर जी ने लिखा है, इन विविध कामों में से कुछ तो आज-कल के पटवारी और उसके अफ़सर करते हैं, कुछ गाँव का कोतवाल या मुकद्दम करता है, और कुछ ऐसे हैं कि आज-कल ग्राम शासन में आते ही नहीं। स्त्री-पुरुषों और वृद्धों की संख्या जानने का हेतु शायद यह हो कि राजा जान सके कि अपने राज्य में कितने योद्धा मिल सकते हैं, और कितनी बड़ी सेना समय पड़ने पर खड़ी की जा सकती है। उनके चरित्र और धंधे, आय और व्यय जानने का हेतु स्पष्टतया यही हो सकता है कि लोग किसी तरह के पापकर्म अथवा अपराध द्वारा अपना उदर-निर्वाह न करें, और जो लोग ऐसा करें उन्हें दण्ड दिया जाय। आज भी पुलिस का काम होता है कि वह लोगों की ऐसी बातों को यद्यपि मुखाग्र न जाने तथापि उनपर ध्यान अवश्य दे।[1]

[1]कौटलीय अर्थशास्त्र मीमांसा।

शासन-व्यवस्था—आचार्य ने शासन-प्रबन्ध के लिए यह व्यवस्था की थी कि प्रत्येक ग्राम का मुख्याधिकारी 'ग्रामिक' हो। पाँच अथवा दस (जैसा समाहर्ता उचित समझे) ग्रामों के समूह अर्थात् संग्रहण का मुख्याधिकारी 'गोप' हो। इसके ऊपर, आठ सौ ग्रामों के समूह अर्थात् स्थानीय का मुख्य अधिकारी स्थानिक हो, तथा सम्पूर्ण जनपद का प्रधान अधिकारी समाहर्ता हो।[1]

अर्थशास्त्र में दो सौ गाँव के समूह को 'खार्वटिक' और चार सौ गाँव के समूह को 'द्रोणमुख' कहा गया है।[2] मालूम होता है कि इन समूहों का सम्बन्ध शासन-प्रबन्ध से न होकर, 'खार्वटिक' का सैनिक व्यवस्था से, और 'द्रोणमुख' का न्याय व्यवस्था से था।

ग्रामिक—ग्रामिक गाँव का मुखिया था, वह वहाँ का शासन-प्रबन्ध करता था। उसे अपने कार्य में ग्राम-संघ (इसके विषय में आगे लिखा जायगा) से सहायता मिलती थी। गाँव के अन्य आदमी भी उसे सहायता देने के लिए बाध्य थे। वह अपराधियों को दण्ड दे सकता था। कौटल्य लिखता है कि जब ग्रामिक गाँव के किसी काम के लिए बाहर जावे तो ग्रामनिवासियों को नम्बर-बार उसके साथ जाना होगा [न जाने पर डेढ़ पण प्रति योजन दण्ड देना पड़ेगा]। यदि वह चोर और व्यभिचारी के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को गाँव से बाहर निकाले तो उसे २४ पण दण्ड दिया जाय, यदि सारा गाँव निकाले तो गाँव को उत्तम साहस दण्ड अर्थात् एक हजार पण तक दण्ड हो।[3] इससे स्पष्ट है कि ग्रामिक को फौजदारी के विषय में भी अधिकार था और वह चोर तथा व्यभिचारी को गाँव से बाहर निकालने का भी दण्ड दे सकता था।

---

[1]कौ० अ० ३।१० और २।३५ [2]कौ० अ० २।१

[3]कौ० अ० ३।१०

ग्राम सम्बन्धी नियम—अर्थशास्त्र में, अन्यान्य संघों में ग्राम-संघ का भी उल्लेख किया गया है। अक्षपटल (आय-व्यय के प्रधान कार्यालय) के अध्यक्ष के कार्यों में आचार्य लिखता है कि 'वह देश-संघ, ग्राम-संघ, जाति-संघ, और कुल संघ के धर्म (कानून), व्यवहार, चरित्र, तथा विशेष परिस्थिति का भी रजिष्टर में उल्लेख करे।[1] आचार्य ने अन्यत्र बहुतसी व्योरेवार बातें बतलाकर लिखा है कि इस प्रकार देश संघ, जाति-संघ और कुल-संघों के नियमोल्लेखन की व्यवस्था बतलायी गयी, अर्थात् यह बताया गया कि उक्त संघों के नियम उलंघन किये जाने पर अमुक दण्ड होना चाहिए।[2] इससे प्रतीत होता है कि ग्रामों का सुव्यवस्थित संगठन था। उनके नियम राजमान्य थे। पहले लिखा जा चुका है कि ग्राम-संघ ग्रामिक को आवश्यकतानुसार सहायता प्रदान करता था। जैसा कि आगे बताया जायगा, गाँव का एक अपना कोष रहता था, जुर्माने आदि की आय उसमें जमा होती थी। ग्रामवाले अपने मनोरंजन तथा सार्वजनिक हित के कार्यों की व्यवस्था तथा उसके खर्च का प्रबन्ध कर लेते थे।

सामुहिक कार्य—प्राचीन ग्राम्य जीवन की एक विशेषता यह थी कि सामुहिक हित का यथेष्ट ध्यान रखा जाता था। आदमी ग्राम सम्बन्धी सब कामों में योग देते थे, पंचायती मंदिर या धर्मशाला आदि बनवाते, मुकदमों का फैसला करते, अपराधी को दंड देते, अपनी रक्षा का प्रबन्ध करते, और राजकर वसूल करके सरकारी खजाने में भेजते थे। वे एक दूसरे की आवश्यकता का विचार करते, और सुख-दुख में काम आते थे।

अर्थशास्त्र से यह स्पष्ट है कि सार्वजनिक निर्माण-कार्य बहुत-कुछ स्थानीय संस्थाओं के सुपुर्द थे। कौटल्य राज्य की ओर से

[1] कौ० अ० २।७ [2] कौ० अ० ३।१०

जलाशय बनवाने तथा उनके बाँध आदि बँधवाने का उल्लेख करके लिखता है कि 'यदि प्रजाजन ही इस कार्य को करना चाहें तो उन्हें जलाशय आदि के लिए भूमि, नहर आदि के लिए मार्ग, और यथावश्यक लकड़ी आदि सामान देकर उनका उपकार करे तथा पुण्य-स्थान, देवालय आदि और बाग बगीचे आदि बनानेवाले प्रजाजनों को भी भूमि आदि की सहायता देवे। इकट्ठे मिलकर सेतु या बाँध आदि बनानेवालें पुरुषों में से यदि कोई मनुष्य काम करना न चाहे तो अपनी जगह अपने नौकर तथा बैलों को काम करने के लिए अवश्य देवे। यदि ऐसा करने में कुछ आनाकानी करे तो उससे उसके हिस्से का सारा खर्च लिया जाय, और कार्य समाप्त होने पर उससे उसे कुछ लाभ न उठाने दिया जाय।' आगे कौटल्य आदेश करता है कि (अनाथ) बालक की सम्पत्ति को, गाँव के लोग सदा बढ़ाते रहें जब तक कि वह बालक बालिग न हो जाय। इसी प्रकार जो द्रव्य देवता के निमित्त निश्चित किया हुआ हो, उसे भी वे बढ़ाते रहें।[1]

सामुहिक हित के नियम—उपर्युक्त कार्यों को गाँववाले प्रायः स्वेच्छापूर्वक करते थे, परन्तु राज नियम भी उनके सामूहिक हित में सहायक होते थे। आचार्य के इस विषय सम्बन्धी कुछ नियम नीचे दिये जाते हैं।

'यदि कोई किसान गाँव में आकर पंचायती या खेती का काम न करे तो उस पर जुर्माना किया जाय, जुरमाना गाँव के (अर्थात् राजा नहीं)। निर्धारित कार्य न करने पर कार्य के वेतन से दूना वसूल किया जाय। समुदाय कार्यों में अपने हिस्से का चन्दा आदि न देने पर उसका दूना, और गोट तथा पंचायती पाँत (भोजन) आदि के अवसर पर अपने हिस्से का खर्च न देने पर भी उसका दूना दंड दिया जाय।

[1] कौ० अ० २।१

अतिरिक्त कोई संन्यासी जनपद में न आवे (दुष्ट आदमी बहुधा साधुओं के रूप में भी फिरा करते हैं)। इसी प्रकार राज्य-हितैषी संघ या समाज के अतिरिक्त अन्य समाज या संघ भी जनपद में न आवे। वहाँ विनोद के स्थान, उपवन आदि, तथा शाला (नाटक गृह आदि) न होने चाहिएँ! नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवी (भांड या विदूषक) और भाट आदि लोगों के कार्य में विघ्न न डालें। शत्रु-समूह या जंगली पुरुषों से घिरी हुई, व्याधि और दुर्भिक्ष से पीड़ित जनता को राजा इन आपत्तियों से बचाये।"[1]

कुछ पाठकों को गाँवों में मनोरंजन या विनोद-सामग्री पर प्रतिबंध लगाने की बात खटकती होगी, और वे इसे वैयक्तिक स्वतंत्रता का अपहरण समझते होंगे। अवश्य ही कौटल्य ऐसी स्वतंत्रता का समर्थक न था, जो लोगों के रोजमर्रा के आवश्यक कार्यों में बाधक हो, और अन्ततः राज्य के लिए भी अहितकर हो। आजकल भी गाँववालों का मुख्य आधार कृषि है, कृषि कार्य में बाधा उपस्थित होने देना अधिकांश जनता पर, और इस लिए राष्ट्र पर, संकट लाना होता है। इस दृष्टिकोण से कौटल्य का नियम आक्षेप योग्य न होकर हितकर ही ठहरता है।

पारिवारिक उत्तरदायित्व—कौटल्य ने इस बात की भी यथेष्ट व्यवस्था की है कि आदमी अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व की अवहेलना करके अनाथों, अनाश्रितों और बेकारी की संख्या न बढ़ायें। वह लिखता है कि "लड़के, स्त्रियों, माता, पिता, नाबालिग भाई, अविवाहित तथा विधवा बहिन आदि का, पुरुष सामर्थ्य रखते हुए भी पालन पोषण न करे, उसे १२ पण दंड दिया जाय। हाँ, यदि ये लड़के स्त्री आदि पतित हों तो इनके सम्बन्धी पर इनके पालन पोषण का उत्तरदायित्व नहीं है। परन्तु यह निषेध माता

[1] कौ० अ० २।१

के लिए नहीं है, अर्थात् उसके पतित होने की दशा में भी उसकी रक्षा की जानी चाहिए।" जो पुरुष अपने पुत्र और स्त्री के निर्वाह का प्रबन्ध न करके संन्यासी होना चाहे, जो अपनी स्त्री को भी संन्यासी होने की प्रेरणा करे, तथा जो धर्मस्थ अधिकारी पुरुषों की अनुमति लिए बिना संन्यासी हो जाय, उसे आचार्य दंडनीय ठहराता है। आजकल हजारों नहीं लाखों साधु संन्यासी, कहे जाने वाले व्यक्ति, ऐसा प्रतिबन्ध न होने के कारण समाज और देश का कितना अहित कर रहे हैं, यह सर्व विदित ही है।

नगरों का प्रबन्ध—ग्राम-प्रबन्ध के विषय में बहुत सी व्यौरेवार बातें लिखने के कारण, नगर-प्रबन्ध के सम्बन्ध में आचार्य को विशेष लिखने की आवश्यकता न हुई। नगरों का प्रबन्ध गावों की भाँति ही होता था। अर्थशास्त्र में लिखा है कि 'जिस प्रकार समाहर्ता जनपद के कार्य का चिन्तन करता है, उसी प्रकार 'नागरिक' नगर के प्रबंन्ध का करे (अर्थात् समाहर्ता जिस प्रकार जनपद के चार भाग करके गोप और स्थानिक की सहायता से उसका प्रबन्ध करता है, इसी तरह नागरिक भी करे)। उत्तम हों तो दस कुल, मध्यम बीस कुल, और अधम चालीस कुलों का, प्रबन्ध गोप नामक अधिकारी करे। वह उन कुलों में विद्यमान स्त्री पुरुषों के वर्ण, गोत्र, नाम और कार्यों के साथ-साथ उनकी संख्या तथा आय-व्यय को भी जाने। नगर (दुर्ग) के चौथे भाग का प्रबन्ध 'स्थानिक' करे। अर्थात् वहाँ रहने वाले स्त्री पुरुषों के वर्ण आदि के साथ-साथ उनकी संख्या और आय व्यय को भी जाने।' [१]

नगर-प्रबन्ध सम्बन्धी मुख्य अधिकारी गोप, स्थानिक, और नागरिक थे। इनका उल्लेख ऊपर ग्राम सम्बन्धी कार्यों के प्रसंग

[१] कौ० अ० २।३६

में हो चुका है। यहाँ उनके नगर-प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों का विचार करना है।

गोप और स्थानिक—गोप के नगर सम्बन्धी कार्यों के विषय में कौटल्य के निम्नलिखित वाक्यों से अच्छा ज्ञान प्राप्त होगा। वह लिखता है, 'धर्मशालाओं के अधिकारी पाखंडी पथिकों को गोप की अनुमति लेकर ही ठहरने देवें। व्यापारी अपने विश्वस्त यात्रियों को परस्पर एक-दूसरे की दुकानों पर ठहरा लेवें, परन्तु जो पुरुष देश-काल के विपरीत विक्रय करने वाला हो, या परायी चीज़ का व्यवहार करता हो, उसकी सूचना (गोप आदि को) दे देवें।'[1] आगे आचार्य कहता है कि 'जो पुरुष अत्यधिक व्यय करने वाला हो, अथवा अत्यधिक मात्रा में मद्य आदि पीवे, उसकी भी सूचना (गोप अथवा स्थानिक को) दी जाय।[2] यदि कोई व्यक्ति छिपे तौर पर फोड़े की, या हथियार आदि से लगे घाव की, चिकित्सा कराये और चिकित्सक उसकी सूचना गोप या स्थानिक को न दे तो उसे दण्ड दिया जाय। इसी प्रकार जिस घर में यह कार्य हो उसका मालिक भी सूचना न देने की दशा में दण्डित हो। घर के मालिक को चाहिए कि वह घर से जाने वाले या घर में आने वाले पुरुष की सूचना दे। सूचना न देने पर उनके रात्रि में चोरी आदि का अपराध करने पर, उसका उत्तरदाता गृह-स्वामी होगा। उनके अपराध न करने पर भी गृह-स्वामि प्रति रात्रि तीन 'पण' दण्ड देवे।' इसी प्रकरण में आचार्य ने नगरों में रात्रि के समय पहरा देने, तथा स्वास्थ्य-रक्षा और

[1] कौ० अ० २।३६; आचार्य देशकाल के विपरीत विक्रय करने वालों पर कड़ी निगाह रखने का आदेश करता है। उस की राज्य-हितचिन्तना का यह कैसा उत्कृष्ट प्रमाण है!

[2] वैयक्तिक स्वतंत्रता के विचार से यह नियंत्रण कठोर प्रतीत होगा, परन्तु इसके हितकर होने की बात स्पष्ट है।

सफाई के सम्बन्ध में विविध नियम दिये हैं, और इन नियमों को भंग करने वालों के लिए दण्ड भी निर्धारित किया है। मकानों को आग लगने से बचाने के लिए तो उसने सविस्तर योजना की है। ये कार्य भी गोप और स्थानिक ही, नागरिक के निरीक्षण में, करते होंगे।

'नागरिक के कार्य'—नगर की रक्षा और शान्ति का उत्तरदायित्व 'नागरिक' पर था। इस अधिकारी के कुछ कार्यों का परिचय कौटल्य के निम्नलिखित वाक्यों से हो जायगा। 'जड़ तथा चेतन सम्बन्धी रात्रि में किये अपराधों की सूचना यदि कोई नगरनिवासी नागरिक को न दे तो उसे उसके अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाय। उन नगर-रक्षक पुरुषों को भी उनके अनुसार ही दण्ड दिया जाय, जो मद्यपान आदि करके नगर की रक्षा करने में प्रमाद करते हों। नागरिक का कर्तव्य है कि वह सदा उदकस्थान (जलाशयों), रास्तों या सड़कों, भूमि, गुप्त मार्गों, किलों, चारदिवारी, बुर्ज और रक्षा के अन्य साधनों की देखरेख करे। वह खोये हुए, भूले हुए, तथा कहीं पर छूटे हुए सामान या प्राणियों को भी उस समय तक सुरक्षित रखे जब तक कि उसके मालिक का ठीक-ठीक पता न लग जाय।' वह नगर की सफाई और स्वास्थ्य का तथा अग्नि से रक्षा करने का ध्यान रखता था।[1]

नगर निवासियों के सामूहिक जीवन तथा अन्य विषयों सम्बन्धी नियमों का अनुमान पहले बतलाये हुए ग्राम सम्बन्धी विचारों से किया जा सकता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि स्थानीय संस्थाओं को आचार्य ने यथेष्ट अधिकार प्रदान करने की योजना की थी। राज्य उनमें, विशेष आवश्यकता बिना, हस्तक्षेप न करता था।

---

[1] कौ० अ० २।३६

यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने विशेषतया पाटलीपुत्र को दृष्टि में रखकर चन्द्रगुप्त के समय के नगर-प्रबन्ध का वर्णन किया है। उसने लिखा है कि राज्य के जिन बड़े-बड़े कर्मचारियों के सुपुर्द नगर हैं, वे पाँच-पाँच मनुष्यों के छः समुदायों में बटे हैं।

(१) पहले समुदाय के लोग कला कौशल से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक बात की देखभाल करते हैं (२) दूसरे समुदाय के लोग विदेशियों का सत्कार करने पर रहते हैं, उनको ये निवास-स्थान देते हैं, और उन लोगों के द्वारा, जिन्हें ये उन (विदेशियों) को सहायकों की भाँति देते हैं, उनके रहन सहन पर भी दृष्टि रखते हैं। जब वे देश छोड़ कर जाते हैं तो ये उन्हें मार्ग में पहुँचाते हैं, अथवा उनके मरने पर उनकी सम्पत्ति को उनके सम्बन्धियों के पास पहुँचा देते हैं। जब वे बीमार होते हैं तो ये उनकी सेवा करते हैं, और यदि वे मरजाते हैं तो ये उनका अन्तिम संस्कार कर देते हैं। (३) तीसरा समुदाय उन लोगों का है, जो यह पता लगाते हैं कि कब और किस प्रकार जन्म और मृत्यु हुई—न केवल कर लगाने के विचार से, वरन इस हेतु से भी कि किसी का भी जन्म या मृत्यु राज्य की सूचना से न बचने पाये। (४) चौथा समुदाय व्यवसाय और व्यापार का निरीक्षण करता है। इसके आदमी नाप और तोल की निगरानी रखते हैं और देखते रहते है कि ऋतु की उपज साधारण सूचना द्वारा बेची जाय। किसी मनुष्य को एक से अधिक प्रकार की सामग्री बेचने का अधिकार नहीं है, जब तक कि वह दूना कर न दे। (५) पाँचवाँ समुदाय बनी हुई वस्तुओं की जांच करता है, जिनको लोग साधारण विज्ञापन द्वारा बेचते हैं। जो वस्तु नई होती है, वह उससे अलग बेची जाती है, जो पुरानी होती है। इन दोनों वस्तुओं को एक साथ मिला देने पर जुर्माना होता है। (६) छठा समुदाय उन लोगों का है, जो बेची हुई वस्तुओं के मूल्य का दशमांश वसूल करते हैं। इस कर के प्रदान में धोखा

देने का दंड मृत्यु द्वारा दिया जाता है।

यही कर्तव्य हैं, जिनका ये समुदाय पृथक्-पृथक् सम्पादन करते हैं। इन के मिले-जुले रूप में, इनके सुपुर्द इनके विशेष विभाग भी रहते हैं, तथा सर्वसाधारण के हितसाधक कार्य भी; जैसे सरकारी इमारतों की मरम्मत कराना, मूल्यों का निर्धारित करना, बाज़ारों बन्दरगाहों और मन्दिरों की निगरानी।

मेगस्थनीज के इस वृत्तान्त के आधार पर विन्सेंट स्मिथ ने चन्द्रगुप्त के समय के नगर-प्रबन्ध का वर्णन किया है। और, स्मिथ का अनुकरण करते हुए अन्य इतिहास-लेखकों ने भी प्राचीन भारत में म्युनिसपैलटियाँ आदि होने का उल्लेख किया है। इसी लिए हमने यहाँ इस की चर्चा की है। अन्यथा कौटल्य के अर्थ-शास्त्र में ये बातें नहीं है। श्री० तामस्कर जी का विचार है कि चन्द्रगुप्त के राजा बनने के समय पाटलीपुत्र नगर उतना विशाल न रहा होगा, जितना वह उसके समय में होगया। कौटल्य का ग्रन्थ चन्द्रगुप्त के शासन के नितान्त प्रारम्भ काल में लिखा गया होगा, इसलिए उस का वर्णन पहले के पाटलीपुत्र को लागू होता है। जैसे-जैसे नगर विस्तृत होता गया वैसे-वैसे श्रम-विभाग की आवश्यकता पड़ी होगी और विविध कार्यों के सम्पादन के लिए 'नागरिक' की अधीनता में कई-कई कर्मचारी आपस में मिलजुल कर काम और सलाह मशविरा करने लगे होंगे।

स्थानीय संस्थाएँ और केन्द्रीय सरकार—प्राचीन काल में केन्द्रीय सरकार का स्थानीय संस्थाओं से मुख्य सम्बन्ध कर-संग्रह का होता था, और इस कार्य के लिए भूमि की नाप-जोख तथा परिवारों की संख्या आदि का हिसाब रखा जाता था: इन बातों का उल्लेख गोप के कार्यों में किया जा चुका है।

स्मरण रहे कि प्रचीन स्थानीय तथा अन्य संस्थाओं में आज-कल की भांति निर्वाचित सदस्य नहीं होते थे। कार्यकर्त्ता सरकार

द्वारा नियुक्त या सरकारी कर्मचारी होते थे; हाँ, वे अधिकांश में जनता के विश्वासपात्र हुआ करते थे। भारतवर्ष की प्राचीन संस्थाओं में और पाश्चात्य देशों की आधुनिक स्थानीय संस्थाओं में एक और मौलिक भेद है। यद्यपि पाश्चात्य देशों में स्थानीय संस्थाओं में करनेवाले आदमियों की संख्या तथा खर्च होनेवाले द्रव्य की मात्रा खासी बड़ी होती है, तथापि उन देशों में वे संस्थाएँ प्राय:केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित या निर्मित होती है। उन्हें अपनी शक्ति राष्ट्रीय व्यवस्थापक सभा द्वारा प्राप्त होती है। वे बड़े यंत्र के अंग मात्र होती हैं, उनका स्वतंत्र या समान अस्तित्व नहीं होता। इसके विपरीत, भारत की प्राचीन स्थानीय संस्थाओं का जीवन स्वतंत्र था। वे एक प्रकार से राज्य को शक्ति प्रदान करने-वाली थीं। राज्य को उनके नियम, संगठन, अधिकार और पारस्परिक सम्बन्ध आदि का आदर करना होता था। इससे इनके महत्व तथा संजीवन शक्ति का रहस्य अच्छी तरह समझ में आसकता है।

———

दसवाँ अध्याय

न्याय और दंड

पचायतें और न्याय—इस अध्याय में हमें कौटल्य के न्याय और दंड सम्बन्धी विचारो पर प्रकाश डालना है। पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन काल में यहाँ ग्राम या नगर-प्रबन्ध में स्थानीय व्यक्ति बहुत-कुछ स्वतंत्र थे। यही नही, न्याय-कार्य में स्थानीय सज्जनों तथा संस्थाओं को बहुत अधिकार प्राप्त था। कौटल्य लिखता है कि दो गाँवों की सीमा के झगड़ों का निपटारा उन दोनों गाँवों के सामन्त या पंचग्रामी या दसग्रामी अधिकारी स्थायी या कृत्रिम हद्बन्दियों द्वारा या जलाशयों से करें।...... खेतों के झगड़ों का निर्णय सामन्त और ग्राम-वृद्ध (बड़े-बूढ़े) पुरुष करें। यदि उनका आपस में एकमत न हो तो जिस पक्ष में धार्मिक पुरुष हों, उसके अनुसार निर्णय किया जाय या किसी को मध्यस्थ बना लें, उसी के निर्णयानुसार कार्य करें।[1] इससे स्पष्ट है कि गाँववालों का न्याय सम्बन्धी बहुत सा कार्य उनके ही बड़े बूढ़े, पंच या मुखिया आदि कर लेते थे।

न्यायालय—कौटल्य लिखता है कि "जनपद सन्धि (जहाँ गाँवों की सीमा मिलती हो), संग्रहण (दस गाँवों केन्द्रीय स्थान), द्रोणमुख (चार सौ गावों का केन्द्रीय स्थान) में तीन धर्मस्थ (न्यायाधीश) और तीन अमात्य साथ-साथ रहते हुए व्यवहार (इकरारनामा शर्त आदि) सम्बन्धी कार्यों का प्रबन्ध करें।"[2] इस प्रकार न्यायालयों का क्रम यह हुआ - (१) जनपद संधि न्यायालय, (२) संग्रहण न्यायालय, (३) द्रोणमुख न्यायालय और

[1] कौ० अ० ६।६ [2] कौ० अ० ३।१

(४) स्थानीय न्यायालय। ये न्यायालय दो प्रकार के होते थे—धर्मस्थीय और कंटकशोधन। धर्मस्थीय न्यायालय के न्यायाधीश धर्मस्थ कहलाते थे। इनका उल्लेख ऊपर किया गया है। कंटकशोधन में तीन 'प्रदेष्टा' या तीन अमात्य कार्य करते थे।[१]

'धर्मस्थीय' न्यायालय में प्राय: व्यक्तियों के विरुद्ध किये गये साधारण अपराधों का विचार होता था। इनमें दंड भी बहुधा साधारण जुर्माने या हवालात का ही होता था। 'कंटकशोधन' में उन अभियोगों का विचार होता था, जो राज्य के विरुद्ध हों या रिश्वत, दुराचार अथवा हत्या आदि से सम्बन्धित होने के कारण राज्य पर प्रभाव डालने वाले हों। ये भारी जुर्माने या क़ैद की सज़ा ही नहीं, प्राण-दंड भी दे सकते थे। 'कंटकशोधन' का अर्थ है, (राज्य या प्रजा के) कंटकों को दूर करना। उपर्युक्त दोनों प्रकार के न्यायालय कुछ अंश में आजकल की दीवानी और फौजदारी अदालतों से मिलते-जुलते थे। तथापि जैसा कि आगे बताये हुए इनके कार्यक्षेत्र का विचार करने से विदित होगा, धर्मस्थीय को सर्वथा दीवानी, या कंटकशोधन को फौजदारी अदालत कहना ठीक न होगा।

धर्मस्थीय में विचारणीय विषय—अर्थशास्त्र के बीस अध्यायों वाले तीसरे अधिकरण में इस बात का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है कि धर्मस्थीय न्यायालयों में किस-किस विषय के अभियोग उपस्थित किये जायँ, मुकदमे की कार्रवाई किस तरह हो, गवाही किस प्रकार ली जाय, निर्णय सुनाने में किन-किन बातों का ध्यान रखा जाय। इन अदालतों में मुख्यतया निम्नलिखित विषयों का विचार होता था :—

(क) व्यवहार अर्थात् पारस्परिक इकरारनामे, शर्त या समझौते। (इन अदालतों को अधिकार था कि वे किसी इकरार-

[१] कौ० अ० ४।१

नामे के ग्राह्य या अग्राह्य होने के सम्बन्ध में भी विचार करें। कौटल्य ने लिखा है कि 'छिपाकर, घर के अन्दर, रात्रि में, जंगल में, छल-कपटपूर्वक तथा एकान्त में किये व्यवहारों को राजकीय नियम के विरुद्ध समझा जाय।)

(ख) विवाह, स्त्रीधन, स्त्रियों का भरण-पोषण; स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, स्त्रियों या पुरुषों के पुनर्विवाह, तलाक, विवाह-शुल्क, पत्नि को छोड़ कर पति का परदेश जाना, स्त्रियों को बहकाना।

(ग) दाय भाग और अंश भाग अर्थात् सम्पत्ति का बटवारा और उत्तराधिकार। (कौटल्य ने ऐसे पुत्रों को मिलने वाले भाग का भी निर्णय किया है, जो एक पति की भिन्न-भिन्न वर्णवाली स्त्रियों से हों)।

(घ) पुत्र विभाग अर्थात किसी स्त्री की, उसके पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष द्वारा उत्पन्न सन्तान पर अधिकार।

(ङ) वास्तुक अर्थात मकान, खेत, बाग और तालाब का निर्म्माण तथा इनकी बिक्री।

(च) चरागाह, खेत, या मार्गों को रोकना।

(छ) ऋण या कर्ज।

(ज) उपनिधि, धरोहर या अमानत।

(झ) दास।

(ञ) स्वामी और भृत्य के सम्बन्ध, नौकरों के वेतनादि।

(ट) सम्भूयसमुत्थान अर्थात् सहोद्योग, साझे का व्यापार, मिश्रित पूँजी या संयुक्त मूलधन का कार्य।

(ठ) क्रय-विक्रय तथा अनुशय (बयाना या साई)।

(ड) प्रतिज्ञात धन का न देना।

(ढ) अस्वामि विक्रय अर्थात् किसी वस्तु का स्वामी न होते हुए बेच देना।

(ण) स्वस्वामी सम्बन्ध अर्थात् मिलकियत सम्बन्धी अधिकारों का निर्णय।

(त) 'साहस' अर्थात् खुले तौर पर धनापहरण, मारधाड़, चोरी या लूट।

(थ) वाक्पारुष्य अर्थात् गाली-गलौच या निन्दा।

(द) दण्ड पारुष्य अर्थात् अनुचित बल प्रयोग, मारपीट और अपवित्र हाथ से छूना।

(ध) द्यूत समाह्वय अर्थात् जुआ, और मुर्गे मेंढ़े या तीतर आदि जानवरों को लड़ाना, शर्त लगाना।

(न) प्रकीर्णक अर्थात् विविध।

कंटकशोधन में विचारणीय विषय—अब हम यह बतलाते हैं कि आचार्य ने कंटकशोधन न्यायालय में किन-किन विषयों का विचार किये जाने का आदेश किया है। इसके सम्बन्ध में, अर्थ-शास्त्र में चौथा पूरा अधिकरण दिया गया है, जिसमें तेरह अध्याय हैं। कंटकशोधन में विशेषतया निम्नलिखित बातों का समावेश है:—

(अ) कारुक रक्षण अर्थात् शिल्पियों की रक्षा और उनके प्रजा की रक्षा।

(आ) व्यापारियों की तथा उनसे प्रजा की रक्षा।

(इ) दैवी आपत्तियों का प्रतिकार। (इसमें अग्नि, जल, बीमारी आदि आठ प्रकार की आपत्तियों से रक्षा के उपाय और नियम बतलाये गये हैं। जो व्यक्ति इनका उल्लंघन करते थे अर्थात् जानबूझ कर सार्वजनिक आपत्ति के अवसर पर सहायता नहीं करते थे, उनके लिए दण्ड निर्धारित था।)

(ई) गूढ़ाजीवियों का प्रतिकार अर्थात् छिपे हुए या नियम-विरुद्ध उपायों द्वारा आजीविका प्राप्त करनेवालों से रक्षा। [गूढ़ा-जीवी तेरह प्रकार के कहे गये हैं :—(बदचलन या रिश्वतखोर)

धर्मस्थ, प्रदेष्टा, गाँव का मुखिया, अध्यक्ष, कपटी साधु, झूठी गवाही देनेवाले, जाली सिक्के बनानेवाले, वशीकरण क्रिया करनेवाले, जादू करनेवाले, मारण आदि करनेवाले, विषदेने या बेचनेवाले, मैनफल का व्यवहार करनेवाले और नकली सोना चाँदी बनानेवाले रासायनिक।]

(उ) कन्याओं और स्त्रियों पर बलात्कार।

(ऊ) अतिचार अर्थात् सामाजिक या नागरिक नियम उल्लंघन।

आचार्य ने इस अधिकरण में विस्तारपूर्वक बताया है कि चोरों को कैसे पहचानना चाहिए तथा उन्हें किस रीति से गिरफ्तार करना चाहिए। गुंडों या बदमाशों को सिद्ध वेशवाले गुप्तचरों द्वारा कैसे पकड़ा जाना चाहिए। अचानक मर जानेवाले की देह की किस प्रकार परीक्षा करके उसकी मृत्यु का पता लगाना चाहिए। अपराधियों के अपराधों का निश्चय करने के लिए उनसे कैसे प्रश्न पूछे जाने चाहिएँ और अन्य किन उपायों का प्रयोग करना चाहिए (स्त्रियों के उत्पीड़न का प्रायः निषेध किया गया है)। प्रबन्धक अधिकारियों और उनके स्थानों की किस प्रकार देख-भाल करनी चाहिए।

न्याय करने के नियमों का आधार—जिन नियमों या कानूनों के अभियोगों का निर्णय किया जाय, उनके आधार के सम्बन्ध से कौटल्य लिखता है कि धर्म 'व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा ये न्याय के चार पैर (अर्थात् आधार, है। इनमें से धर्म वही है जो सत्य है, व्यवहार वह है जिसका साक्षियों से निर्णय होता है; चरित्र पुरुषों के सामूहिक आचरण या प्रथा में है और राजाज्ञा का अर्थ राजकीय शासन है।'[1]

[1] कौ० अ० ३।१; ; धर्म से अभिप्राय: धर्मशास्त्र से है, आचार्य के आगे दिये हुए उद्धरण का विचार कीजिए। चरित्र के सम्बन्ध में

उक्त चार आधारों में परस्पर विरोध होने की दशा में किसे प्रधानता दी जाय, इस विषय में आचार्य बतलाता है कि 'अगला पिछले का बाधक है' अर्थात् अगला पिछलों को काटता है। उदाहरणार्थ यदि राजशासन और चरित्र में विरोध हो तो राज-शासन को प्रमाणिक समझा जाय। इसी तरह अन्य स्थानों पर भी ग्रहण करना चाहिए। आगे आचार्य कहता है कि संस्था (चरित्र) से या धर्मशास्त्र से व्यावहारिक शास्त्र का जिस विषय में विरोध हो वहाँ धर्म की सहायता से अर्थ का निश्चय किया जाना चाहिए। जब धर्म न्याय से (धर्म) शास्त्र का विरोध हो तो न्याय (धर्मन्याय) को प्रमाण मानना चाहिए। यह समझ लिया जाय कि (धर्म) शास्त्र का पाठ अशुद्ध हो सकता है।[1]

अभियोग-विचार और साक्षी—मुकदमे की कर्रवाई किस प्रकार हो, वादी प्रतिवादी को क्या-क्या कार्य करना चाहिए और कौन-कौनसा कार्य नहीं करना चाहिए, अधिकारियों को इस विषय में किन-किन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है, कैसा-कैसा

श्री० सत्यकेतु जी विद्यालंकार लिखते हैं कि "इस काल में व्यापारी, शिल्पी, श्रमी आदि के गण विद्यमान थे। इनके बनाये नियमों को राजा स्वीकृत करता था। इनके विशेष नियमों को 'चरित्र' शब्द से कहा जाता था। इसके सिवाय मनुष्यों में प्रचलित अखिलित नियमों को प्रमाणिक समझा जाता था। न्याय करते हुए उनका सदा ख्याल रखा जाता था।" श्री० तामस्कर के विचार से "व्यवहार वर्तमान काल से सम्बन्ध रखता है, और 'चरित्र' केवल वर्तमान काल से ही नहीं, बल्कि भूत काल से भी।"

[1]इस विषय सम्बन्धी टीका में, विविध लेखकों का मतभेद है। (न्याय) का अर्थ, श्री० तामस्कर जी के विचार से न्याय बुद्धि (Equity) है, जो कानून का एक अंग है।

व्यवहार जायज समझा जाय, और कैसा व्यवहार नाजायज—इस विषय में आचार्य ने विस्तारपूर्वक लिखा है। इसी प्रकार आचार्य ने यह भी अच्छी तरह बतलाया है कि किस-किस प्रकार के विषय में कानून या लोक-व्यवहार क्या है। स्थानाभाव से यहाँ केवल साक्षी के विषय में ही कुछ चर्चा की जाती है। आचार्य कहता है कि "विश्वासी, पवित्र-चरित्र और दोनों (वादी-प्रतिवादी) के अनुमत कम-से-कम तीन या दो साक्षी होने चाहिएँ।" इसमें दोनों के अनुमत' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। कौटल्य के अनुसार यह नहीं हो सकता कि कोई पक्ष चाहे जिस आदमी को अपना साक्षी बना ले। मेल-मुलाहिजे, प्रलोभन या भय का उपयोग तो शाक्षी के लिए हो ही नहीं सकता। आचार्य लिखता है कि साधारण अभियोग में 'साला, सहायक, आवद्ध, (जिसका जीवन किसी एक व्यक्ति पर आश्रित हो), धनिक (उत्तमर्ण), धारणिक (अधमर्ण), शत्रु, अंगहीन, या राज्य से दण्ड पाया व्यक्ति साक्षी नही हो सकते।, "राजा, वेदवक्ता ब्राह्मण; गाँव का कर्मचारी, कोढ़ी, पतित, चांडाल, कुत्सित कार्य करने वाले, अंधे, बहरे गूँगे, अभिमानी स्त्री और राजपुरुष भी अपने वर्ग को छोड़कर अन्यत्र साक्षी नही हो सकते।,'[1]

आजकल सब साक्षियों से प्रायः एक ही प्रकार की शपथ लेने की व्यवस्था होती है, इसमें बहुधा कुछ महत्व नहीं रहता, यह यांत्रिक सी होती है। कौटल्य बतलाता है कि भिन्न-भिन्न वर्णों के साक्षियों को उनके अनुरूप पृथक्-पृथक् प्रकार की शपथ दिलानी चाहिए। "साक्षियों को ब्राह्मण, जल से भरे हुए घड़े, तथा अग्नि के पास खड़ा किया जाय। यदि साक्षी ब्राह्मण हो तो वहाँ पर उससे 'सच बोलो' यह कहा जांय। यदि साक्षी क्षत्रिय या वैश्य हो तो उनसे यह कहा जाय कि (यदि तुम सत्य न बोलो तो) तुम्हें

[1]कौ० अ० ३।११

इष्ट (यज्ञ आदि) और पूर्त (धर्मशाला आदि जनता के हितार्थ बनवाने) का कोई फल न मिले, तुम खप्पर हाथ में लेकर शत्रु-सेना के पास भिक्षा मांगते फिरो। यदि साक्षी शूद्र हो तो उससे यह कहा जाय कि जन्म जन्मांतर में जो तुम्हारा पुण्य हो, वह राजा को मिले, और राजा का पाप तुम्हें प्राप्त हो। झूठ बोलने पर दंड दिया ही जायगा। बाद में भी सुनने या देखने के अनुसार मामले की जाँच की जायगी। इसलिए तुम्हें सत्य का ही व्यवहार करना चाहिए।" आचार्य ने यह भी बतलाया है कि यदि साक्षी मिथ्या या भ्रमजनक बात कहें तो उनपर अभियोग चलाकर उन्हें कैसा दंड दिया जाय।[1]

न्याय-पद्धति सम्बन्धी बातों को यहीं समाप्त करके अब हम दंड के विषय में विचार करते हैं।

दंड का रूप—आचार्य लिखता है कि 'लोक व्यवहार में चार प्रकार के दंड हैं, छः डंडे मारना, सात कोड़े मारना, हाथ पैर बाँधकर ऊपर को उल्टा लटका देना, और नाक में पानी डालना। इनके अतिरिक्त पाप कर्म करनेवाले के लिए निम्नलिखित प्रकार के भी दंड होते हैं—नौ हाथ लम्बे बेत से बारह बेंत लगाना, दो रस्सियों से अलहदा-अलहदा टांगों को लपेटना, करंजवे की छड़ी से बीस बार आघात करना, बत्तीस थप्पड़ मारना, बाएँ हाथ को पीछे की ओर से बांये पैर के साथ बांधना, दांये हाथ को दांये पैर के साथ बांधना, दोनों हाथ आपस में बाँधकर लटका देना, दोनो पैर बांधकर लटका देना, हाथ के नाखून में सुई चुभोना, लपसी पिलाकर पेशाब न करने देना, अंगुली का एक पोरुआ जला देना, घी पिलाकर एक दिन तक (धूप में या अग्नि के सामने) तपाना, जाड़ों की रात में भीगी हुई चारपाई पर सुलाना।[2] अर्थशास्त्र में कैद, जुरमाने, अंग-भंग और प्राण-दंड का पर्याप्त उल्लेख है।

[1]कौ० अ० ३।११ [2]कौ० अ० ४।८

अधिकारियों और नागरिकों का विचार—प्राय: राज्यों में अधिकारियों के साथ बहुत नर्मी का व्यवहार किया जाता है, उन्हें दंड देने में राज्य की अपनी प्रतिष्ठा जाने की आशंका होती है। आचार्य की दृष्टि इससे भिन्न है। वह इस बात के लिए बहुत सतर्क है कि कहीं रक्षक ही भक्षक न बन बैठे। वह राजकर्मचारियों के व्यवहार की कड़ी जाँच करने के लिए गुप्तचरों की विशाल योजना करता है तथा उनके अपराधों के लिए साधारण नागरिक की अपेक्षा कठोर दंड ठहराता है। अधिकारियों में भी जो जितना बड़ा है, उसके लिए दंड प्राय: उतना ही अधिक है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। आचार्य लिखता है कि "यदि कुटुम्बी (साधारण प्रजाजन) जाली कागज या मोहर आदि बनावे तो उसे प्रथम साहस दंड दिया जाय। अध्यक्ष (सुवर्णाध्यक्ष आदि) ऐसा काम करे तो उसे मध्यम साहस दंड, गाँव का मुखिया करे तो उसे उत्तम साहस दंड, और समाहर्त्ता करे तो उसे प्राण-दंड दिया जाय।[1] हाँ, ऐसी भी व्यवस्था है कि उक्त व्यक्तियों को अपराध के अनुसार उचित दंड दिया जाय; परन्तु कौटल्य यह कहीं नहीं कहता कि किसी अधिकारी को क्षमा कर दिया जाय अथवा एक अधिकारी की अपेक्षा साधारण प्रजाजन को, या उच्च अधिकारी की अपेक्षा निम्न पदाधिकारी को, अधिक दंड दिया जाय।

---

[1] कौ० अ० ४।९; अर्थशास्त्र के अनुसार 'साहस' का अर्थ है, लूटमार या डकैती। ४८ से ९६ पण तक जुरमाना प्रथम साहस दंड, २०० से ५०० पण तक का जुरमाना मध्यम साहस दंड, और ५०० से १००० पण तक का जुरमाना उत्तम साहस दंड कहा जाता है कौ० अ० ३।१७)। पण के सम्बन्ध में चौदहवें अध्याय में लिखा गया है।

अधिकारियों को मिलनेवाला दंड; चोरी के अपराध में—आचार्य ने राज्याधिकारियों के चोरी आदि विविध अपराधों के लिए ब्यौरेवार दंड निर्धारित किये हैं। उसने अर्थिक दंडों के विकल्प रूपऐ से दंडों की व्यवस्था की है, जिनसे अपराधी सर्वसाधारण की दृष्टि में अपमानित होने की आशंका के कारण अपराध करने से बचे तथा जिसे देख कर दूसरों पर अभीष्ट प्रभाव पड़े। उसके कुछ नियम इस प्रकार हैं:—(राजकर्मचारी को, जनता की) आधा पण कीमत की वस्तु चुराने पर छः पण दंड दिया जाय, ।अथवा गोबर की राख से उस का सारा शरीर लपेटकर (काला करके) ढिंढोरा पीटते हुए सारी बस्ती में घुमाया जाय। पौन पण तक की वस्तु चुराने पर नौ पण दंड दिया जाय, अथवा गोबर की राख से शरीर काला करके या रस्सी में शकोरा (मिट्टी का कटोरा) पिरो कर उसे अपराधी के गले या कमर में लटका कर ढिंढोरा पीटते हुए बस्ती में घुमायां जाय। एक पण मूल्य तक की वस्तु चुराने पर बारह पण दंड दिया चाय, अथवा सिर मुंडवा कर बस्ती से निकाल दिया जाय। दो पण तक वस्तु चुराने पर चौबीस पण दंड दिया जाय अथवा सिर मुँडवा कर, रोड़े मारते हुए बस्ती से निकाल दिया जाय। चार पण तक की वस्तु चुराने पर ३६ पण, पाँच पण तक की वस्तु चुराने पर ४८ पण, दस पण तक की वस्तु चुराने पर प्रथम साहस दंड, बीस पण तक की वस्तु चुराने पर २०० पण, चालीस पण तक की वस्तु चुराने के लिए १००० पण, और पचास पण तक की वस्तु चुराने पर प्राण-दंड दिया जाय।' यदि रक्षा की जाती हुई किसी वस्तु को बलपूर्वक अपहरण किया जाय तो उस से दुगना और यदि अपहरण करने वाला पुरुष हथियारबन्द हो, तो उस पर और भी अधिक जुरमाना होता था।[1]

[1] कौ० अ० ४।९

राजा की आज्ञा की आवश्यकता—कुछ अपराध ऐसे भी थे जिनके लिए दंड राजा की आज्ञा से दिया जाता। कौटल्य लिखता है कि "पहले चोरी करनेवाले को, प्रतिज्ञा करके वस्तु अपहरण करनेवाले को, चुरायी हुई या या खोयी हुई चीजों में से किसी एक चीज के सहित मिले हुए पुरुष को, अथवा चोरी करते हुए माल ले जाते हुए पकड़े जानेवाले पुरुष को, राजा की आज्ञानुसार, एक साथ अलहदा-अलहदा अथवा क्रम से आजीवन कठिन श्रम का दंड दिया जाय।"[1]

आचार्य ने अपराधी ब्राह्मण को उसके अपराध के अनुसार, उसके मस्तक पर चिन्ह करके देश से निकालने अथवा खानों में रहने की आज्ञा दी जाने की बात लिखी है; यह कार्य भी राजा द्वारा ही किये जाने का आदेश है।

कौटल्य की दंडनीति—कई आचार्यों का मत है कि संसार को ठीक-ठीक रास्ते पर चलाने की इच्छा रखनेवाला राजा सदा उद्यत-दंड रहे, क्योंकि दंड के अतिरिक्त इस प्रकार का और कोई भी साधन नहीं है जिससे सब ही प्राणी झट अपने वश में हो सकें, परन्तु कौटल्य ऐसा नहीं मानता। उसका कथन है कि तीक्ष्ण दंड (निष्ठुरतापूर्वक दंड देनेवाले) राजा से सब ही प्राणी खिन्न हो जाते हैं। तथा जो दंड देने में कमी करता है, लोग उसका तिरस्कार करते हैं। इसलिए राजा उचित दंड देनेवाला होना चाहिए। इस प्रकार दंड देनेवाले राजा सदा ही पूजा जाता है।[2]

अर्थशास्त्र में, बहुत से अपराधों में अंग-भंग करने का नियम है, प्राण-दंड भी कितने ही अपराधों में दिये जाने का उल्लेख है। यहाँ तक कि कौटल्य ने लिखा है कि किसी कर्मचारी को पचास पण के मूल्य की वस्तु चुराने पर प्राण-दंड दिया जाय।[3] मालूम होता है कि कौटल्य ने ऐसे नियम तत्कालीन

[1] कौ० अ० ४।८   [2] कौ० अ० १।४   [3] कौ० अ० ४।९

परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर बनाये थे। वह यथा-सम्भव दंडों की कठोरता कम करना चाहता था। उसने अर्थशास्त्र का एक अध्याय 'एकांग वध और उसका निष्क्रय' रखा है, इसमें उसने अंग-वध के दंड के साथ-साथ विकल्प रूप से आर्थिक दंड की भी योजना की है। उदाहरणवत् उसने लिखा है कि 'तीर्थों पर वस्त्र आदि चुरानेवाले (उठाईगीर, उचक्के) गठकटे और छत फोड़नेवाले पुरुषों का अँगूठा और कन्नी (कनिष्ठिका) अँगुली कटवा दी जाय, अथवा ५४ पण दंड दिया जाय। दूसरी बार फिर अपराध करने पर सब अंगुली काट दी जायँ, अथवा सौ पण दंड दिया जाय। तीसरी बार अपराध करने पर दाहिना हाथ काट दिया जाय अथवा चार सौ पण दण्ड दिया जाय। चौथी बार फिर अपराध करने पर इच्छानुसार प्राण-दण्ड दिया जाय।'

दंड-नीति की आलोचना—कौटल्य की दण्ड-नीति के विषय में विविध आलोचक चाहे जो कुछ कहें, इसमें संदेह नहीं कि तत्कालीन परिस्थिति में वह सफल मनोरथ रहा। विविध प्रमाणों से यह भली भांति सिद्ध होता है कि चोरी आदि के अपराध उस समय बहुत कम होते थे, और प्राण-दण्ड आदि के प्रसंग बहुत कम उपस्थित होते थे। तत्कालीन सुप्रसिद्ध युनानी राजदूत मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि राजधानी में, जिसकी आबादी चार लाख थी, किसी भी दिन दो सौ पण से अधिक चोरी नहीं हुई।[1]

यह कहा जा सकता है कि कौटल्य की दंड-नीति अत्यन्त

[1]इसका एक विशेष कारण यह भी था कि आचार्य ने जनता की आर्थिक उन्नति का ऐसा ध्यान रखा कि किसी को अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चोरी आदि नहीं करनी होती थी। इसके अतिरिक्त शिक्षा, सदाचार, और संयम की यथेष्ट व्यवस्था, तथा वातावरण की अनुकूलता थी।

कठोर है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि दंड-नीति की कठोरता कम करने का प्रयत्न पाश्चात्य देशों में भी कुछ पुराना नहीं है। जैसा कि श्री० विनयकुमार सरकार ने लिखा है, इंगलैंड का दण्ड-विधान सतरहवीं अठारहवीं शताब्दी में, तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक ऐसे ही भावों से पूर्ण और ऐसा ही निर्दयता युक्त था, जैसा भारतीय दण्ड-विधान तीसरी चौथी शताब्दी ई० पू० था। सन् १८४५ ई० में ढाई सौ अपराध ऐसे थे जिनके लिए प्राण-दण्ड की व्यवस्था थी; इनमें से कुछ अपराध तो अत्यन्त ही साधारण थे, उदाहरणवत् खिड़की तोड़ना, तथा दो पेंस मूल्य के रंग का चुराना आदि। इससे पहले की पीढ़ी में वहाँ चौदह सौ आदमियों को ऐसे अपराधों में फाँसी दी गयी थी, जिनके लिए पीछे प्राण-दण्ड हटा दिया गया था। इससे स्पष्ट है कि यदि देशकाल का सम्यक् विचार करें तो कौटल्य की (तथा प्राचीन भारतीय नीतिकारों की) दण्ड-नीति को कठोर नहीं कहा जा सकता, वह अपेक्षाकृत कुछ कोमल ही है।

कैदियों से व्यवहार—न्याय सम्बन्धी अन्यान्य बातों में, आचार्य इस बात का आदेश करना नहीं भूलता कि कैदियों से समुचित व्यवहार किया जाय, राजकर्मचारी उनके साथ मनमानी न करें। वह लिखता है कि 'यदि (कोई राजकर्मचारी) कैदी की जगह बदले, या उसके खाने-पीने में रुकावट डाले, तो उसे ९६ पण दण्ड; उसको कोड़े आदि मारकर दुख देवे या रिश्वत दिलवावे तो उसे मध्यम साहस दण्ड दिया जाय। कैदी का बध करदेने पर एक हजार पण दण्ड दिया जाय। खरीदी हुई या गिरवी रखी हुई कैदी दासी के साथ जेल में दुराचार करने पर प्रथम साहस दण्ड दिया जाय।'[1]

[1] कौ० अ० ४।९

कैदियों की मुक्ति—आचार्य ने कैदियों के छोड़ेजाने के तीन प्रकार तो बतलाये हीं है, कार्य कराकर, शारीरिक दण्ड देकर, और सोना आदि द्रव्य लेकर। इस के अतिरिक्त आचार्य लिखता है कि कारागार में बन्द हुए बालक, बूढ़े, बीमार और अनाथों को राजा की जन्मगाँठ आदि के शुभ नक्षत्रों या पूर्णमासी पर्वों में मुक्त कर दिया जाय।.......किसी नये देश के जीतलेने पर, युवराज का अभिषेक होने पर, अथवा पुत्र का जन्म होने पर कैदियों को छोड़ा जाता है[1] इससे स्पष्ट है कि आचार्य इस विषय में भी आधुनिक नीतिज्ञों के समान विचार रखने वाला था।

न्यायाधीशों का नियंत्रण—आचार्य के न्यायाधीश अनियंत्रित अधिकारी नहीं थे। उन्हें अपना फैसला सुनाने में ही नहीं, अभियुक्तों के साथ उचित व्यवहार करने में भी बहुत सतर्क रहना पड़ता था। कौटल्य ने लिखा है कि यदि धर्मस्थ वादी प्रतिवादी को अंगुली दिखाकर डराता है, धमकाता है, या बाहर निकलवाता है, या उससे रिश्वत लेता है तो पहले उसे ही 'प्रथम साहस दण्ड' दिया जाय। वह कठोर वाक्यों का प्रयोग करे तो इससे दुगना दण्ड दिया जाय। यदि वह (साक्षी) से पूछने योग्य बातों में से कुछ नहीं पूछता, न पूछने योग्य बातों को पूछता है, या पूछकर (बिना उत्तर लिए) छोड़ देता है, सिखाता है, याद दिलाता है या अपनी ओर से पूरी करता है तो उसे मध्यम साहस दण्ड दिया जाय। यदि वह आवश्यक परिस्थिति के विषय में नहीं पूछता और अनावश्यक परिस्थिति के विषय में पूछता है, परिस्थिति के यथेष्ट ज्ञान के बिना झगड़े को निपटाता है, छल करता है, व्यर्थ समय बिताकर (दोनों पक्षों या साक्षियों को) थकाता है, क्रमपूर्वक कहे हुए आवश्यक वाक्यों को

[1] कौ० अ० २।३६

उलट पुलट करता है, साक्षियों को बीच में सहायता देता है, विचारपूर्वक निर्णय की हुई बात को पुनः उपस्थित करता है, तो उसे उत्तम साहस दण्ड दिया जाय। दुबारा यही अपराध करने पर दुगना दण्ड दिया जाय, और पदच्युत कर दिया जाय।

आगे आचार्य लिखता है कि 'धर्मस्थ अथवा प्रदेष्टा यदि किसी निरपराधी को सुवर्ण दण्ड देवे तो उन्हें उससे दुगना दण्ड दिया जाय। यदि उचित से कम या अधिक दण्ड देवें तो उन्हें उस दण्ड का आठ गुणा दण्ड दिया जाय शारीरिक दण्ड देने की अवस्था में उन्हें भी वही शारीरिक दण्ड दिया जाय।[१]

न्याय और दण्ड की निस्पक्षता—उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कौटल्य ने इस ओर यथेष्ट ध्यान दिया है कि न्यायाधीश न्याय-कार्य ठीक-ठीक करें, किसी को उचित से अधिक दण्ड न दे। वह चाहता था कि किसी के साथ कोई पक्षपात न हो। इस सम्बन्ध में राजा के सम्बन्ध में कहा हुआ उस का निम्नलिखित उपदेश भी स्मरण रखने योग्य है—"धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करने वाले राजा का अपना धर्म स्वर्ग-प्राप्ति का साधन होता है। इसके विपरीत, प्रजा की रक्षा न करनेवाले तथा मिथ्या (अनुचित) दण्ड देनेवाले राजा को कभी सुख नहीं होता। पुत्र और शत्रु को उनके अपराध के अनुसार, राजा के द्वारा बराबर दिया हुआ दण्ड ही इस लोक और परलोक की रक्षा करता है।'[२] जब कि आचार्य पुत्र और शत्रु तक को समान दण्ड देने की व्यवस्था करता है, तो धनी निर्धन, आदि के भेद का तो प्रश्न ही नहीं रहता। हमने अन्यत्र कहा है कि कौटल्य ने भारतवर्ष की प्राचीन परम्परा के अनुसार जनता को न्याय-कर से मुक्त रखकर गरीब अमीर सब

[१]कौ० अ० ४।६ [२]कौ० अ० ३।१

के लिए न्याय का द्वार समान रूप से प्रशस्त रखा है, धनिकों को कुछ विशेष सुविधाएँ और निर्धनों को असुविधाएँ नहीं होनी थीं। राजकर्मचारियों तक से वह कोई रियायत करने के पक्ष में नहीं हैं, वरन् जैसा अन्यत्र बताया गया है, वह उन के लिए कुछ कठोर ही है, तथा उनपर अच्छी तरह शासन किये जाने का आदेश करता है। आचार्य प्रत्येक दृष्टि से ऐसा आयोजन करता है कि कोई भी अपराधी दण्ड से न बच सके, और सब अपराधियों को दण्ड निस्पक्ष भाव से मिले।

दंड और वर्ण-व्यवस्था—आचार्य ने अपने दण्ड सम्बन्धी नियमों में वर्ण-भेद का लिहाज रखा है। वह लिखता है कि यदि चांडाल शूद्र की निन्दा करे तो तीन पण, वैश्यकी करे तो छः पण, क्षत्रिय की करे तो नौ पण, और ब्राह्मण की करे तो बारह पण दण्ड दिया जाय। यदि ब्राह्मण चांडाल की निन्दा करे तो उसे दो पण, शूद्र की करे तो चार पण, वैश्य की करे तो छः पण, इसी प्रकर अन्यत्र आचार्य ने बतलाया है क "ब्राह्मण को किसी भी अपराध में मृत्यु-दण्ड या ताड़न दण्ड न दिया जाय, वरन् भिन्न-भिन्न अपराधों के अनुसार उनके मस्तक पर चिन्ह लगाकर और जनता में इसकी घोषणा करके राजा उसे देश से निकाल दे, अथवा खानों में रहने की आज्ञा दे।"[1]

पुनः कौटल्य लिखता है कि 'राज्य की कामना करनेवाले, अन्तःपुर में झमेला डालनेवाले, अटवीचर पुलिन्द आदि को, तथा अन्य शत्रुओं को उभारनेवाले, और किले तथा बाहर की सेना को राजा से कुपित करा देनेवाले पुरुषों को, उनके सिर और हाथ पर जलता हुआ अंगारा-रखकर कत्ल करवा दिया जाय। यदि ऐसा काम करनेवाला कोई ब्राह्मण हो तो उसे आजीवन कालकोठरी में बन्द कर दे।'[2]

[1]कौ० अ० ४।८ [2]कौ० अ० ४।११

ब्राह्मण से रियायत करने अथवा दण्ड में वर्ण-भेद का विचार रखने की बात आधुनिक दृष्टिकोण वाले अनेक व्यक्तियों को ठीक न जचेगी, वह पक्षपातयुक्त कही जायगी। तथापि भिन्न-भिन्न प्रकृति, योग्यता या गुण स्वभाववालों को किसी अपराध के लिए समान रूप से दण्ड देना भी कहाँ तक ठीक है? पाठकों के विचारार्थ एक दृष्टान्त उपस्थित किया जाता है।

एक बार राजा विक्रमादित्य के सामने नगर-कोतवाल चार अपराधियों को लेकर उपस्थित हुआ और उससे कहा कि इन चारों ने गत रात्रि में राज्य के खजाने में चोरी करने के लिए, किले की दीवार फाँदकर प्रवेश किया है। इनमें से एक जौहरी का लड़का, दूसरा राजपुरोहित का, तीसरा धनिक वैश्य का, और चौथा शूद्र का है। महाराज के सामने चारों ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। तब महाराज ने जौहरी पुत्र से प्रेमपूर्वक कहा 'तुम्हारे जैसे कुलीन व्यक्ति को यह शोभा नहीं देता, बुरी संगति का परिणाम बुरा ही होता है; जाओ भविष्य में ऐसा न करना।' पुरोहित के पुत्र को फटकारते हुए राजा ने कहा 'ब्राह्मण को तो आवश्यकतानुसार धन स्वयं ही मिलता ही रहता है, फिर तुमने ब्राह्मण समाज को एवं अपने पूर्वजों को कलंकित करने वाला यह कार्य क्यों किया? जाओ! तुम दुष्ट वृत्तियों का त्याग करो और सदाचारी बनो।' धनिक पुत्र को भी मूढ़, पाखण्डी, शूद्र, नालायक आदि अपशब्द कहकर छोड़ दिया गया। अन्त में चौथे चोर के लिए महाराज ने राजपुरुषों को आज्ञा दी कि 'इसकी पीठपर नमक के पानी में भिगोकर सौ कोड़े लगाओ, फिर इसका मुँह काला करके गधे पर चढ़ा कर गाते-बजाते चाँडालों से अपमानित करते हुए सारे शहर में घुमा कर छोड़ दो।'

राजसभा के सदस्यों की शंका समाधान के लिए महाराज ने

गुप्तचरों की इन अपराधियों के ऊपर होनेवाले दण्ड के परिणाम का पता लगाकर राजसभा में सूचित करने की आज्ञा दी। अगले दिन मालूम हुआ कि जौहरी-पुत्र ने लोगों को मुँह दिखाना अनुचित समझ कर, हीरे की कणी खा कर प्राण त्याग दिया; पुरोहित पुत्र ने शास्त्राध्ययन और उपासना के लिए काशी को प्रस्थान कर दिया। वैश्य-पुत्र लज्जा के मारे घर में पश्चाताप करता रहा। चौथे चोर को शहर में घुमाते समय जनता देखने लगी, उसकी स्त्री भी देखने आयी। उस निर्लज्ज ने अपनी स्त्री से कहा कि अब थोड़ा ही घूमना बाकी रहा है, घर पर जाकर जल्दी भोजन तैयार करो। वह दुष्ट चाँडालों के अपमानजनक शब्दों को सुन कर भी दुख नहीं मानता था पीछे उसने फिर डाका डाला और उसके इस अपराध पर उसके दोनों हाथ कटवा दिये गये।

इससे स्पष्ट है कि दण्ड का भार व्यक्ति की परिस्थिति या हैसियत आदि के अनुसार पड़ता है, और न्याय-पद्धति में इसका विचार रखा जाना अत्यन्त आवश्यक है।

दण्ड और स्त्रियाँ—आचार्य ने यह व्यवस्था की है कि स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा दण्ड कम दिया जावे, और कुछ दशाओं में तो उन्हें दंड दिया ही न जाय। वह लिखता है कि "गर्भिणी तथा एक माह से कम की प्रसूता स्त्री को कदापि दंड न दिया जाय। विविध अपराधों में जो दण्ड पुरुषों के लिए बताया गया है, स्त्रियों को केवल उसका आधा ही दण्ड दिया जाय, अथवा केवल वाग्दण्ड ही दिया जाय।"[1] यह एक बात ही यह प्रमाणित करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है कि भारतवर्ष की प्राचीन दण्ड-व्यवस्था अन्धाधुन्ध न थी, वह बहुत विचार-पूर्वक निश्चित की गयी थी। महिलाओं से कुछ रियायत की जाने की बात से आधुनिक राज्य अपनी सभ्यता की श्रेष्ठता सूचित करते हैं, भारतवर्ष के लिए यह

[1] कौ० अ० ४।८

कोई विशेष बात नहीं है, वह तो इसे चिरकाल से मानता आया है।

न्यायाधीशों को सत्परामर्श—यद्यपि आचार्य की कुछ बातें तत्कालीन परिस्थिति के विचार से लिखी गयी हैं, तथापि उसकी बहुत-सी बातों से इस समय भी लाभ उठाया जा सकता है। इस प्रकार की कुछ बातों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। आचार्य केवल यही नहीं चाहता कि अपराध की मात्रा के अनुसार दण्ड दे दिया जाय, वह अपराधी को एवं अपराध करने के समय की परिस्थिति आदि को भी अध्ययन किये जाने का आदेश करता है। उसने लिखा है कि 'प्रदेष्टा को चाहिए कि वह राजा और अमात्यों के मध्य में रहता हुआ, दण्ड देने के समय में पुरुष को, उसके अपराध को, अपराध के कारणों को, आदमी की छोटी-बड़ी हैसियत को, भविष्य में तथा उस समय होनेवाले परिणाम को, देश और काल को अच्छी तरह सोचविचार लेवें। फिर प्रथम मध्यम तथा उत्तम साहस आदि दण्डो को न्यायानुसार देवें।'[1] इस उद्धरण का एक-एक शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण और आचार्य की विचारशीलता तथा दूरदर्शिता की सूचना दे रहा है। इसकी व्याख्या में बहुत-कुछ कहा जा सकता है; परन्तु विस्तार-भय से कहा नहीं जा रहा है। तत्वान्वेषी पाठक स्वयं विचार करें।

आचार्य न्यायाधीशों का ध्यान इस ओर दिलाता है कि वे खूब सोच समझकर ही दण्ड दें। वह लिखता है 'कि क्योंकि लोक में यह देखा गया है कि जो चोर नहीं है, वह भी अचानक चोरी के रास्ते पर जाता हुआ, चोरों के समान ही वेश हथियार और माल अपने पास होने के कारण गिरफ्तार किया जाता है, जैसा मांडव्य मार के डर से अपने आपको चोर न होते हुए भी 'मैं चोर

[1] कौ० अ० ४।१०

हूँ' इस प्रकार कहता हुआ पकड़ा गया। (यह कथा महाभारत आदि में आयी है)। इस लिए इस प्रकार के मामलों में अच्छी तरह सोच-समझकर ही दण्ड दिया जाय। थोड़ा अपराध करने-वाले को, बालक, बूढ़े, बीमार, पागल, उन्माद रोग के रोगी, भूखे, प्यासे, थके हुए, बहुत अधिक भोजन किये हुए, अजीर्ण के रोगी, और बलहीन को शारीरिक दण्ड (कोड़े आदि का) न दियाजाय। ..... जिस का अपराध निश्चित हो जाय, उसी को दण्ड देवे।"[1]

आचार्य का निम्नलिखित उद्धरण भी बहुत शिक्षाप्रद है :— किसी पुरुष के अपराध के अनुसार ही उसके दण्ड का विधान होना चाहिए। दानी, तपस्वी, बीमार, भूखे प्यासे, रास्ता चलने से थके हुए, परदेशी, बहुत बार दण्ड भुगते हुए, तथा निर्धन व्यक्तियों पर सदा अनुग्रह करना चाहिए। धर्मस्थ अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वे देव, ब्राह्मण, तपस्वी, स्त्री, बालक, बूढ़े, बीमार, तथा अपने दुःखों को कहने के लिए न जानेवाले अनाथों के कार्य को स्वयं करदें, देश काल आदि का बहाना करके उसके धन का अपहरण न करें, तथा जो पुरुष विद्या, बुद्धि, पौरुष, कुल और कार्यों के कारण बढ़े हुए हों, उनकी सदा प्रतिष्ठा करें। इस प्रकार धर्मस्थ छल-कपट रहित होकर अपने सब कार्यों को करें, और सब का बराबर निरीक्षण करते हुए जनता के विश्वासपात्र तथा लोकप्रिय बनें।"[2] क्या आधुनिक न्यायाधीश इन बातों पर अमल करने का प्रयत्न करेंगे, और क्या विविध राज्यों के कानून उन्हें पूर्ण रूप से ऐसा करने की अनुमति देंगे?

तत्कालीन न्याया-पद्धति की विशेषताएँ—पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उस समय यहाँ न्याय कार्य कितनी उत्तमता से सम्पा-दित होता था। इस कार्य में शासकों का हस्तक्षेप नहीं था, वरन् अधिकारियों के विरुद्ध अभियोग होने की दशा में, उन्हें भी

---
[1]कौ० अ० ४।८ [2]कौ० अ० ३।२०

नियमानुसार दण्ड मिलता था, जो साधारण प्रजाजनों की अपेक्षा अधिक ही होता था। धनवानों को न्याय-प्राप्ति के लिए विशेष सुविधाएँ नहीं थीं, उनके साथ कोई रियायत नहीं होती थी। निर्धनों के लिए भी न्यायालय का द्वार समान रूप से खुला था। साक्षी इस प्रकार ली जाती थी कि गवाहों के मन पर उसका यथेष्ट प्रभाव पड़े, और वे झूठ बोलने से बचे रहें। उनके बाद विवाद के विषय तो आपस में ही तय हो जाते थे। ग्रामवृद्ध और नगरवृद्ध को वस्तुस्थिति का सम्यक् ज्ञान होता था, और वादी-प्रतिवादी को वकील करने की जरूरत नहीं रहती थी। न्यायकार्य तत्परता से होता था और समय, धन तथा शक्ति का नाश करनेवाली उस मुकदमेबाजी से लोग प्राय: मुक्त रहते थे, जो आधुनिक सभ्यता का एक आवश्यक अंग हो रही है। अपराधियों को दंड आँख मीचकर किसी निर्दिष्ट कानून के अनुसार नहीं दे दियाजाता था वरन् उसमें न्यायाधीशों को खूब सोचविचार करना पड़ता था; अपराधी की परिस्थिति, गुण, स्वभाव, प्रकृति आदि का सम्यक् विचार रखना होता था कौटल्य ने विवध प्रकार के अपराधियों को भिन्न-भिन्न दंड देने तथा कुछ अपराधियों को एक ही अपराध के लिए न्यूनाधिक दंड देने और विशेष दशाओं में दंड-मुक्त करने की बात कहने के साथ यह भी आदेश कर दिया है कि 'जो अधिकारी काम कराने या मारने के द्वारा इन उपर्युक्त दंड के नियमों का उल्लंघन करे या करावे उसे उत्तम साहस दंड दिया जाय।' इससे स्पष्ट है कि आचार्य ने इन नियमों के समुचित रीति से पालन कराने की व्यवस्था की थी।

ग्यारहवाँ अध्याय

—:००:—

कर्मचारियों की योग्यता आदि

—:०:—

पहले कहा जा चुका है कि कौटल्य की शासनपद्धति में अनेक सरकारी विभाग थे। उन विभागों में विविध अध्यक्ष, तथा एक-एक अध्यक्ष के अधीन कई-कई अन्य कर्मचारी थे। न्याय और गुप्तचर विभाग के कर्मचारियों की भी खासी संख्या थी। इस प्रकार कुल कर्मचारियों का बहुसंख्यक होना अनिवार्य था। यदि ये कर्मचारी अपने कर्तव्यों का ठीक-ठीक पालन न करें तो कितना अनिष्ट हो, यह सहज ही ज्ञात हो सकता है। परन्तु कौटल्य जैसा नीतिज्ञ ऐसा अनर्थ कब होने दे सकता है!

कर्मचारियों की योग्यता—आचार्य अमात्यों अर्थात् राज कर्मचारियों के पद पर योग्य व्यक्तियों को ही नियत करता है। योग्यता का अभिप्राय एकमात्र मासिक योग्यता से नहीं है। केवल बौद्धिक परीक्षाओं में ही उत्तीर्ण व्यक्ति बहुधा अपने उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्यों के पालन में अनुत्तीर्ण होकर अपनी अयोग्यता की घोषणा किया करते हैं। इसलिए कौटल्य ने अर्थशास्त्र में अमात्यों के आवश्यक गुणों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उसने इस सम्बन्ध में अपने पूर्ववर्ती भारद्वाज आदि विविध आचार्यों का उल्लेख किया है, जिन्होंने एक-दूसरे के मत का खंडन करते हुए भिन्न-भिन्न गुणों की आवश्यकता दर्शायी है। अन्त में कौटल्य ने लिखा है कि "आचार्य बाहुदन्तीपुत्र (इन्द्र) का कथन है कि नीति आदि शास्त्रों में

निपुण पुरुष भी, अमात्य के कार्यों से अपरिचित होने के कारण उनमें असफल हो सकता है। इसलिए ऐसे पुरुषों को ही अमात्य नियुक्त किया जाय जो कुलीन, बुद्धिमान, पवित्रहृदय, शूर और स्वामी में अनुराग रखने वाले हों; क्योंकि अमात्य में गुणों की प्रधानता होनी ही अत्यन्त आवश्यक है। आचर्य कौटल्य का मत है कि भरद्वाज आदि आचार्यों ने अमात्य के सम्बन्ध में जो गुण बतलाये हैं, उन सब से ही उसे युक्त होना चाहिए, क्योंकि पुरुष के सामर्थ्य की कल्पना उसके किये कार्यों के सफल होने पर, तथा उसकी विद्या बुद्धि आदि के बल पर, ही की जाती है अतः राजा अमात्य-कार्यों को देश- काल और कर्म के अनुसार विभक्त करके अमात्य नियत करे।"[1]

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि आचर्य अमात्यों की नियुक्ति में जाति-भेद का विचार नहीं करता। निर्धारित गुणवाले प्रत्येक व्यक्ति को वह उसके योग्य स्थान देने को प्रस्तुत है। वास्तव में वह जातीय या साम्प्रदायिक भेद भावों का, विवाह आदि सामाजिक विषयों के अतिरिक्त, किसी राजनैतिक विषय में, विचार नहीं करता। वह तो एकमात्र गुण-कर्म का उपासक है।

कर्मचारियों का वेतनादि—कभी-कभी अच्छे-अच्छे धर्मात्मा माने जानेवाले व्यक्ति भी अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने की दशा में, कर्तव्य-भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिए राज्य के सूत्रधारों के सामने कर्मचारियों के वेतन आदि का प्रश्न बहुत विचारणीय रहता है। हमें देखना चाहिए कि कौटल्य इस विषय में क्या व्यवस्था करता है। आचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्र का एक पूरा प्रकरण राजकर्मचारियों के वेतन के विवेचन में दिया है। उसने उसका शीर्षक रखा

---

[1] कौ० अ० १।८

है 'भृत्यों का भरण-पोषण।' इसी से यह प्रकट है कि वह यह उचित नहीं समझता कि राज्य कर्मचारियों को निर्धारित रकम देकर निश्चिन्त हो जाय, चाहे उस रकम से उनका निर्बाह हो या न हो, अथवा चाहे वे कर्मचारी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रिश्वत या घूँस आदि लेने के निन्द्य उपाय ही क्यों न काम से लायें। आचार्य तो उनका भरण-पोषण होना चाहता है, जिससे वे संतुष्ट रहें, अपना कर्तव्य अच्छी तरह पालन करें; वे चाह जैसे अपनी आय बढ़ाने की फिक्र में न रहें।

आचार्य राजकर्मचारियों के परिवार के लिए भी पर्याप्त व्यस्था करता है वह लिखता है कि उनके, काम करते हुए, मर जाने पर उनके वेतन और भत्ते आदि को उनके लड़के या स्त्री लेवे। मृत राजकर्मचारियों के परिवार के बालक बूढ़े और बीमार सम्बन्धियों पर राजा सदैव अनुग्रह दृष्टि बनाये रखे, तथा इनके यहाँ मौत, बीमारी या प्रसव आदि के समय आर्थिक सहायता दे तथा इनका सत्कार करता रहे। खजाने में कमी होने पर राजा कुप्य (जंगल की वस्तुएँ), पशु तथा भूमि आदि देवे।'[1] ऐसी व्यवस्था से राज-कर्मचारियों का संतुष्ट रहना और अपने कार्य में पूर्ण रूप से तन-मन लगाये रखना स्वाभाविक है। उन्हें बेईमानी करने, या रिश्वत लेने आदि की आवश्यकता नहीं रहती। वे प्रजा की गाढ़ी कमाई में से, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए, द्रव्य लेकर उसमें असंतोष बढ़ाने का कारण नहीं होते।

मुख्य-मुख्य राजकर्मचारियों को मिलनेवाले वेतन का परिणाम आगे पन्द्रहवें अध्याय में बताया जायगा।

कर्मचारियों का व्यवहार—अर्थशास्त्र में बताया गया है कि "अध्यक्ष अपने मालिक की आज्ञानुसार एक-दूसरे अध्यक्ष के साथ न मिलते हुए, तथा परस्पर में विरोध न करते हुए, अपने-अपने

[1] कौ० अ० ५।३

कार्यों में तत्पर रहें, क्योंकि यदि वे आपस में मिल जायँगे तो गुट्ट बनाकर राजा के धन को खायँगे, और यदि आपस में विरोध करेंगे तो राजा के कार्य को नष्ट करेंगे। स्वामी के निवेदन किये बिना वे किसी नये कार्य को आरम्भ न करें, परन्तु जो कार्य किसी आपत्ति का प्रतिकार करने के लिए किये जा रहे हों, उनको करने के लिए राजा की अनुमति की आवश्यकता नहीं। आगे आचार्य कहता है कि 'यदि कोई अध्यक्ष अपने स्वामी की आज्ञानुसार ठीक काम करता है तथा उससे भी अधिक और विशेष (हितकर) कार्य करता है, तो उसकी पद तथा आदर-मान की दृष्टि से विशेष उन्नति की जाय।

कर्मचारियों की जाँच—कुछ आदमी यथेष्ट आयवाले होने पर भी और अधिक आय के भूखे रहते हैं। वे लोभ को दमन नहीं कर सकते। आचार्य इस बात को भूलता नहीं। इसलिए वह कर्मचारियों के लिए यथेष्ट वेतन और भत्ता, तथा उनके परिवारों के लिए सहायता की व्यवस्था से संतोष नहीं करता। वह लिखता है कि कार्यों पर नियुक्त कियेजाने पर, राजा इन की सदा ही परीक्षा करवाता रहे, क्योंकि मनुष्यों के चित्त सदा एकसे नहीं रहते। घोड़े की तरह पहले शान्त दिखनेवाला पुरुष भी कार्य पर नियुक्त होजाने के पश्चात् कभी-कभी विकार को प्राप्त होजाता है। इस लिए राजा को चाहिए कि वह कर्त्ता (अध्यक्ष), कारण (नीचे काम करनेवाले कर्मचारी), देश, काल कार्य, और उदय अर्थात् लाभ के विषय में अवश्य जानता रहे।[1] यह पहले बताया जा चुका है कि अर्थशास्त्र में गुप्तचर विभाग का विराट आयोजन किया गया है। कौटल्य के गुप्तचर अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमय बात का पता लगाते थे। वे राजकर्मचारियों के दोषों को भी देखते तथा राजा को उस की सूचना देते रहते थे।

---

[1] कौ० अ० २।६

आज-कल राजकर्मचारियों के व्यवहार की देख-रेख गुप्तचरों द्वारा कम करायी जाती है। इस कार्य के लिए दूसरे उनसे ऊंचे दर्जे के अधिकारी रहते हैं, साधारणतया यह पद्धति अच्छी समझी जाती है। पर इससे यथेष्ट उद्देश्य-सिद्धि होती है, यह नहीं कहा जा सकता। पुलिस और अदालतों में द्रव्य के बल पर किस प्रकार सच को झूठ और झूठ को सच कर दिया जाता है, यह कोई रहस्य नहीं। रेल और नहर आदि विभागों में भी कितनी रिश्वत चलती है, यह अनेक पाठकों को भली-भांति ज्ञात होगा। हाँ, आज-कल रिश्वत देने-लेने का काम बहुत 'सुन्दर' और 'सभ्यता-मूलक' ढंग से किया जाता है। कौटल्य की शासन-पद्धति इस दोष से प्रायः मुक्त थी, और इस दृष्टि से अधिकांश वर्त्तमान पद्धतियों की अपेक्षा अच्छी थी। आचार्य लिखता है कि 'यदि किसी अध्यक्ष के विषय में राजा को धन अपहरण करने का सन्देह हो तो राजा उसके प्रधान निरीक्षक अधिकारी पुरुष को, खजानची को, लेखक को, लेनेवाले को, कर दिलानेवाले राजपुरुष को, अपराधी के सलाहकार को, तथा उस मंत्री के नौकरों को पृथक्-पृथक् बुलाकर यह पूछे कि इस अध्यक्ष ने धन का अपहरण किया है या नहीं। यदि इनमें से कोई झूठ बोले तो उसे अपराधी के समान ही दंड दिया जाय। राजा सम्पूर्ण जनपद में घोषणा करादे कि यदि अमुक अध्यक्ष किसी को पीड़ा देकर धन अपहरण करे तो राजा के यहाँ सूचना दीजाय; सूचना देने पर उसे अध्यक्ष से उतना ही धन दिलवाया जा।[1]

कोष-क्षय सम्बन्धी विचार—आचार्य इस बात को भलीभाँति अनुभव करता है कि जो कर्मचारी राज्य की ओर से रुपये-पैसे का काम करते हैं, उनको पथ भ्रष्ट होने, बेईमानी करने, का बहुत अवसर मिलता है। अतः उनके विषय में वह बहुत

[1] कौ० अ० २।८

सतर्क है, और उनका व्यौरेवार विचार करता है। वह बतलाता है कि राजकर्मचारी किस-किस तरह कोष का क्षय करते हैं, और उन्हें उसका क्या-क्या दण्ड मिलना चाहिए। उसने लिखा है :—

(१) राजग्राह्य कर आदि का संग्रह करना, संग्रह करके भी उसे अपने अधिकार में न करना तथा अधिकार में करके भी उसे खजाने में न पहुँचाना, यह तीन प्रकार का 'प्रतिबन्ध' होता है। इसके अपराधी अध्यक्ष पर क्षय की रकम से दस-गुना जुरमाना किया जाय।

(२-३) कोष-द्रव्यों से अपने आप ही देन लेन करने लग जाना (उन्हें ब्याज पर उठाना) 'प्रयोग कहलाता है। और, उनका व्यापार करने लगना 'व्यवहार' कहाता है। इनके अपराधी पर क्षय की रकम से दुगना जुरमाना किया जाय।

(४) राजग्रह्य धन को निर्धारित समय पर न लेकर, रिश्वत लेने की इच्छा से, दूसरे समय में प्रजा को तंग करके वसूल करना 'अवस्तार' कहा जाता है। इसके अपराधी को क्षय की रकम से पाँचगुना दण्ड दिया जाय।

(५) कुप्रबन्ध से नियत आय को कम करना, और व्यय को बढ़ा देना 'परिहापण' कहा जाता है, इसके अपराधी को क्षय की रकम से चौगुना दण्ड दिया जाय।

(६) राजद्रव्यों का स्वयं भोग करने या उन्हें इष्ट मित्र आदि को भोग कराने का नाम 'उपभोग' है। रत्नों का 'उपभोग' करने-वाले को प्राण-दण्ड, सार-द्रव्यों का उपभोग करनेवाले को मध्यम साहस दण्ड दिया जाय, तथा फल्गु और कुप्य द्रव्यों का उपभोग करने पर वे द्रव्य वापिस लिये जाँय, और उतना ही दण्ड दिया जाय।

(७) राजद्रव्यों को दूसरे द्रव्यों से बदल देना 'परिवर्तन'

कहाता है। इसके अपराधी के लिए 'उपभोग' के समान ही दण्ड समझना चाहिए।

(८) प्राप्त हुई आय को पुस्तक में न लिखना, नियमित व्यय को पुस्तक में लिखकर भी व्यय न करना, और प्राप्त हुई नीवी का आलाप करना (अर्थात् हाथ में होने पर भी यह कहना कि मेरे पास नहीं है) 'अपहार' कहाता है। इस प्रकार कोष के क्षय करनेवाले को क्षय से बारह गुना दण्ड दिया जाय।

आचार्य ने विस्तारपूर्वक बतलाया है कि अध्यक्ष चालीस प्रकार से राजद्रव्यों का अपहरण कर सकते हैं; राजा इन सब उपायों को जानकर उन्हें अपहरण करने से रोके और अपहृत धन को वापिस ले।[1]

आचार्य रुपये-पैसे के काम को पूरी ईमानदारी से करालेने की कठिनाई का पर्याप्त रूप से अनुभव करता हुआ लिखता है कि जिस प्रकार किसी के लिए जीभ के नीचे के भाग में लगे हुए विष या शहद का न चखना असम्भव है, उसी प्रकार राजा के अर्थ सम्बन्धी कार्यों पर नियुक्त हुए कर्मचारी उस धन का थोड़ा-बहुत स्वाद न लें, यह असम्भव है। जिस प्रकार पानी में रहती हुई मछलियाँ पानी पीती हुई नहीं मालूम होतीं, इसी प्रकार अर्थ-कार्यों पर नियुक्त हुए राजकर्मचारी धन का अपहरण करते हुए मालूम नहीं होते। आकाश में उड़ते हुए पक्षी की गति जानी जा सकती है, परन्तु गुप्त रूप से कार्य करते हुए अध्यक्षों की गति पहचानना बहुत कठिन है। इसलिए इस प्रकार के अध्यक्षों के विषय में राजा को उचित है कि वह, धन अपहरण करके समृद्ध हुए अध्यक्षों के धन को उनकी समृद्धि से अथवा गुप्तचरों के द्वारा अच्छी तरह जानकर उनसे छीन लेवे, और उन कर्मचारियों को उच्चपद से पदच्युत करके, निम्न कार्यों पर नियुक्त करे, जिससे कि वे फिर धन का

[1] कौ० अ० २।८

अपहरण न करें, तथा अपहरण किये हुए धन को स्वयं उगल देवे'[1]

कर्मचारियों की ईमानदारी—अर्थशास्त्र में कहा गया है, कि "कुछ आचार्यों का मत है कि यदि किसी अध्यक्ष को आमदनी थोड़ी होती हो, तथा वह खर्च बहुत अधिक करता हो तो समझना चाहिए कि वह अवश्य ही राजा के धन का अपहरण करता है; इसके विपरीत आमदनी के अनुसार खर्च करनेवाले के विषय में यह समझना चाहिए कि यह राजा का धन नहीं खाता, अर्थात् वह ईमानदार है। परन्तु कौटल्य इस मत को नहीं मानता। (एक बड़े परिवारवाला अध्यक्ष स्वयं थोड़ा खर्च करते हुए भी परिवार-पोषण के लिए धन अपहरण कर सकता है, तथा अत्यधिक धन अपहरण करता हुआ भी कंजूस आदमी कभी अधिक खर्च नहीं करता) इसलिए उसका मत है कि अध्यक्षों की ईमानदारी और बेईमानी का पता गुप्तचरों द्वारा ही लगाना चाहिए।"

आगे कौटल्य कहता है कि यदि कोई अध्यक्ष 'समुदय' (नियमानुसार होनेवाली आय) में कमी करता है, तो समझना चाहिए कि वह राजा के धन में से अवश्य खाता है। यदि वह अपने अज्ञान आदि के कारण आमदनी में कमी करता है तो उसके अपराध के अनुसार उससे द्रव्य लिया जाय। यदि कोई अध्यक्ष नियमित आय से दुगना वसूल करता है तो समझना चाहिए कि वह जनपद (जनता) को पीड़ा पहुँचा कर इतना धन वसूल करता है। यदि वह उस अधिक संग्रह किये हुए धन को राजा के लिए भेज देता है तो उसे अल्प अपराध का दंड दिया जाय, जिससे वह आगे ऐसा न करे। यदि वह अधिक अपराध करता है, अर्थात् उस धन को राजा के पास न भेजकर स्वयं अपहरण कर

---

[1]कौ० अ० ६।२

लेता है तो प्रजा-पीडन और धनापहरण दोनों अपराधों का उचित दंड दिया जाय।

"जो अध्यक्ष व्यय के लिए नियत किये हुए धन को व्यय न करके लाभ में शामिल कर देता है वह पुरुषों (काम करनेवाले मजदूरों) तथा राजकार्य को खाता है अर्थात नष्ट कर देता है। ऐसे अध्यक्ष को उस कार्य की हानि के वेतन का अपहरण करने के सम्बन्ध में, अपराध के अनुसार, उचित दंड दिया जाय।"[1] बहुत से राजकर्मचारी जनता से कर आदि के रूप में बहुत अधिक धन संग्रह करके वाहवाही लूटने के अभिलाषी रहा करते हैं, अथवा व्यय के लिए नियत किये हुए धन में बचत करके अपनी बुद्धिमत्ता दर्शाया करते हैं, उनके लिए आचार्य के उपर्युक्त वाक्य बहुत उपदेशप्रद है।

राजकर्मचारियों को दंड—बहुधा राज्य अपने कर्मचारियों के उन दोषों की उपेक्षा करदेते हैं, जो उनसे प्रजावर्ग के आदमियों के साथ व्यवहार करने में होते हैं। राज्य इस बात में एक प्रकार से अपना अपमान मानते हैं कि उनके कर्मचारी जो उसके स्तम्भ-स्वरूप होते हैं, दंडित हों। परन्तु कौटल्य राज्य के ऐसे मिथ्या-भिमानकी रक्षा करना नहीं चाहता, वह राजकर्मचारियों के विषय में जाँच करने तथा आवश्यकतानुसार उन्हें दंड देने में किंचित संकोच नहीं करता; चाहे अपराध राज्य के प्रति हों, या प्रजा के प्रति।

आचार्य ने राजकर्मचारियों द्वारा किये जानेवाले अपराधों तथा उनपर होनेवालों दण्डों का सूक्ष्मतया विचार किया है। उसने उनके चोरी के अपराधों के दो स्पष्ट भेद किये हैं :—(१) सरकारी खेती, सरकारी खान या शस्त्रागार आदि किसी सरकारी विभाग की चोरी के अपराध (२) जनता के खेतों, घरों, और दुकानों आदि की चोरी के अपराध। इनमें से प्रथम प्रकार के अपराधों

---

[1] कौ॰ अ॰ २।९

अधिकारों पर रहते हैं, इन को सीधा कहने से प्रजा में असंतोष फैलने की सम्भावना रहती है), धर्मात्मा राजा को चाहिए कि उन में उपांशु दंड (गुप्त रूप से बध आदि के दंड) का प्रयोग करे।[1]

कौटल्य राजकर्मचारियों के लिए ऐसे कठोर नियंत्रण और दंड की व्यवस्था इस लिए करता है कि वह भली भांति जानता है कि स्वयं नियमानुसार व्यवहार करनेवाले कर्मचारी ही प्रजा के सम्मुख अच्छा आदर्श रख सकते हैं, तथा अच्छी तरह प्रबन्ध कार्य करने में समर्थ होते हैं। वह लिखता है, कि 'राजा अपने कर्मचारियों को दंड के द्वारा ठीक-ठीक मार्ग पर चलावे। फिर नियमानुसार व्यवहार करनेवाले राजकीय कर्मचारी दंड के द्वारा नगर या प्रान्त में रहने वाली सम्पूर्ण प्रजा को ठीक-ठीक रास्ते पर लायें,[2] आचार्य का यह कथन कितना महत्वपूर्ण तथा अनुकरणीय है, यह बताने की अवश्यकता नहीं।

विशेष वक्तव्य—इस से स्पष्ट है कि कौटल्य ने जहाँ राज-कर्मचारियों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति का यथेष्ट प्रबन्ध किया है, वहाँ उनपर नियंत्रण भी पर्याप्त रूप से रखा है।वास्तव में जो राज्य अपने कर्मचारियों को अनियंत्रित अधिकार दे देता है, और उनके विरुद्ध नागरिकों की शिकायतों पर समुचित ध्यान नहीं देता, वह स्वयं अपना ह्रास करता है। राजकर्मचारी शक्तिशाली बन जाते हैं। और वे क्रमशः केन्द्रीय सरकार की भी उपेक्षा करने लगते हैं। इस लिए यह आवश्यक है कि कर्मचारियों पर कानून और नियम का शासन उसी प्रकार हो, जिस प्रकार अन्य प्रजावर्ग पर होता है; यह नही कि कर्मचारियों के लिए अलग नीति निर्धारित की जाय,

[1] कौ० अ० ५।१ [2] कौ० आ० ४।६

और उन की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए असाधारण कानूनों की सृष्टि की जाय। किसी विशेष परिस्थिति और बहुत ही परिमित समय की बात दूसरी है परन्तु साधारणतया उक्त सिद्धान्त की अवहेलना करना स्वयं राज्य के लिए बहुत अनिष्टकारी होता है। आचार्य कौटल्य इस बात को खूब अच्छी तरह समझता था।

———

बारहवाँ अध्याय

—:oo:—

सेना और युद्ध

—:oo:—

आधुनिक भारतीय पाठक सेना के विषय में बहुत कम बातें जानते हैं, तथा जानने की आवश्यकता समझते हैं। बात यह है कि आजकल भारतीयों को सेना के सम्बन्ध में मुख्य अधिकार कुछ हैं ही नहीं; उसकी व्यवस्था, प्रधान पदाधिकारियों की नियुक्ति, सैनिक भरती, संचालन, उसके लिए आवश्यक खर्च करना, अस्त्र-शस्त्र मँगवाना आदि सब विषय ऐसे हैं, जो मातृभूमि की संतान के लिए प्राय: गुप्त रहस्य हैं। कौटल्य ने एक स्वतंत्र प्रभुता-प्राप्त राज्य के सम्बन्ध में लिखा है जिसके लिए आत्मरक्षा ही नहीं, एक सीमा तक विजय और विस्तार के उत्तरदायित्व को भी ग्रहण करना अनिवार्य है। अत: उसकी शासनपद्धति में सेना के सम्बन्ध में उसके कुछ विचार दिये जाने आवश्यक हैं।

सेना के भेद—उस समय यहाँ पैदल, घुड़सवार, रथ सेना तथा हस्ति सेना, इन चार प्रकार की स्थल सेना, एवं नौ सेना बहुत बड़ी मात्रा में रहती थी।[1] आचार्य ने इनके सम्बन्ध में कई प्रकरणों में विशद विवेचन किया है। उसने सेनापति, पत्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, नावध्यक्ष तथा इनमें से प्रत्येक के अधीन कर्मचारियों के कर्त्तव्यों और योग्यता

---

[1]कुछ लेखकों के कथनानुसार मौर्य सेना में छः लाख प्यादे, तीस हजार घुड़सवार, छत्तीस हज़ार हाथीसवार, और चौबीस हज़ार रथारोही होते थे।

आदि के विषय में इतनी ब्यौरेवार बातें लिखी हैं कि यहाँ उनका सूक्ष्म सारांश भी नहीं दिया जा सकता। हाँ, यह बता देना आवश्यक है कि सेना से साधारणतया स्थल सेना का ही बोध होता था, और इसके चार अंग होने से इसे चतुरंगिनी सेना कहा जाता था। आजकल इस सेना में रथ और हाथी नहीं होते। हाँ अब हवाई सेना भी रहने लगी है। अस्तु, इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि मौर्यकाल में आजकल की अपेक्षा सेना के भेदों में क्या अन्तर था।

सेना की भरती—सेना की भरती के सम्बन्ध में आचार्य के निम्नलिखित वाक्य से प्रकाश पड़ता है—'पत्यध्यक्ष को चाहिए कि वह (१) मौल[1] (बाप दादों के समय से काम करनेवाली), (२) भृत (वेतनभोगी अर्थात् किराये पर लड़नेवाली), (३) श्रेणी[2] (योद्धा जातियों की), (४) मित्र (मित्र राज्य की), (५) अमित्र (शत्रु राज्य की), (६) अटवी (जंगल में रहनेवाली) इन छः प्रकार की सेनाओं की सारता तथा निस्सारता को जाने।'[3] आचार्य ने अन्यत्र यह बतलाकर कि इन भिन्न-भिन्न सेनाओं को किस-किस अवसर पर युद्ध के लिए तैयार करना चाहिए, कहा है, कि इनके अतिरिक्त एक सातवीं सेना 'औत्साहिक' नाम की होती है, जो एक मुख्य नेता से रहित, भिन्न-भिन्न देशों में रहनेवाली, राजा से स्वीकार की हुई अथवा

---

[1]श्री उदयवीर जी शास्त्री ने 'मौल बल' का अर्थ 'मूल स्थान अर्थात् राजधानी में होनेवाली उसकी रक्षा करनेवाली; और 'श्रेणी बल' का अर्थ 'प्रान्त में भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहनेवाली सेना किया है। अन्यत्र (कौ० अ० ६।२) उन्होंने श्रेणिबल का अर्थ जनपद में अपना-अपना काम करनेवाले शस्त्रास्त्र विद्या में निपुण पुरुषों की सेना किया है। [3]कौ० अ० २।३३

स्वीकार न की हुई, दूसरे देशों को लूटने के लिए उठ खड़ी होती है।[1]

इन सात प्रकार की सेनाओं के गुणों और योग्यता की तुलना के सम्बन्ध में आचार्य ने लिखा है कि इनमें उत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व की सेना का संग्रह करना अधिक सिद्धिकर होता है, अर्थात् सब से श्रेष्ठ 'मौलबल' उससे दूसरे दर्जे पर 'भृतबल' इत्यादि।

किस जाति की सेना अच्छी समझी जाय, इस सम्बन्ध में आचार्य लिखता है कि 'अन्य आचार्यों का मत है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की पृथक्-पृथक् सेनाओं में उत्तरोत्तर सेना की अपेक्षा पूर्व पूर्व सेना, तेज (धार्मिकता) की प्रधानता के कारण अधिक श्रेयस्कर होती है। परन्तु कौटल्य का यह मत नहीं है; कारण कि शत्रु, ब्राह्मण-बल को प्रणिपात अर्थात् नमस्कार या सत्कार से ही अपने अधीन कर लेता है। इसलिए शस्त्रास्त्र की विद्या में सुरक्षित क्षत्रिय बल को ही सब की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर समझना चाहिए; अथवा वैश्य और शूद्र बल को भी श्रेयस्कर समझा जा सकता है, जब कि उसमें वीरों की अधिकता हो।'[2] इससे स्पष्ट है कि आचार्य कौटल्य सेना के लिए क्षत्रियों को अच्छा समझता हुआ भी, यथेष्ट बल-सम्पन्न होने की दशा में वैश्य और शूद्र जातियों को भी रक्षा-कार्य में समुचित स्थान देने के पक्ष में है। वास्तव में उसमें जातीय पक्षपात नहीं है, वह तो गुणों का ग्राहक है।[3]

सैन्य संचालन और अधिकरी—सेना-संचालक अधिकारियों के

---

[1] कौ० अ० ६।१

[2] कौ० अ० ६।२

[3] उन दिनों जाति (उपजातियों) की संख्या भी आजकल की भाँति असम्यादित नहीं थी, और न उनमें ऐसी कट्टरता ही थी।

सम्बन्ध में कौटल्य लिखता है कि इस सेनांगों के एक पति अर्थात् अधिकारी को 'पदिक' कहते हैं। दस पदिक अधिकारियों के ऊपर एक सेनापति होता है और दस सेनापतियों के ऊपर एक नायक होता है।[1]

पदिक दस रथ और दस हाथियों का अधिकारी होता था। अन्यत्र आचार्य ने बतलाया है कि एक घुड़सवार सिपाही के आगे उसकी सहायतार्थ युद्ध करने के लिए तीन पुरुष नियुक्त किये जायँ। इसी प्रकार हाथी और रथ के आगे पन्द्रह-पन्द्रह आदमी अथवा पाँच-पाँच घुड़सवार सिपाही खड़े किये जायँ। घोड़े, रथ तथा हाथियों के उतने ही[2] 'पादगोप' (अर्थात् उनकी सेवा या टहल-टकोरी करनेवाले साईस आदि) नियुक्त किये जायँ।[3]

सेनापति की योग्यता और कार्य—सेनापति के सम्बन्ध में कुछ बातें सातवें अध्याय में कही जा चुकी हैं। आचार्य लिखता है कि उसको हर तरह के युद्ध और हथियार आदि के चलाने में पूर्ण शिक्षित होना चाहिये, हाथी घोड़े और रथ आदि के चलाने में भी अत्यन्त निपुण होना चाहिए और अपनी चतुरंग सेना के कार्य तथा स्थान के सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उसके ये कार्य हैं:—वह अपनी भूमि, युद्ध का समय, शत्रु की सेना, शत्रु के व्यूह को तोड़ना, बिखरी हुई अपनी सेना को इकट्ठी करना, एक दूसरे की रक्षा के लिए इकट्ठे हुए शत्रु बल को फोड़ना, बिखरे हुए शत्रु बल का मारना, शत्रु के दुर्ग का

[1] कौ० अ० १०।६

[2] श्री० उदयवीरजी शास्त्री ने यह संख्या पाँच बताते हुए, यह उल्लेख किया है कि माधवाचार्य ने अपनी नयचन्द्रिका व्याख्या में लिखा है कि जैसे एक घोड़े के आगे चलनेवाले तीन आदमी होते हैं, इस तरह उसके सेवक भी तीन ही आदमी होने चाहिए।

[3] कौ० अ० १०।५

तोड़ना, और यात्रा, समय का विचार करना। सेनाओं की शिक्षा में तत्पर रहता हुआ सेनापति स्थान, गमन, और प्रहरण (आक्रमण) के सम्बन्ध में बाजे ध्वजा और झंडियों के द्वारा अपनी सेना के लिये इशारों की व्यवस्था करे। [१]

नायक और सैनिक संकेत---नायक का उल्लेख उच्च पदाधिकारियों में किया जा चुका है। यह सेना का सबसे प्रधान अधिकारी था। इसके सम्बन्ध में आचार्य लिखता है कि दस सेनापति अधिकारियों के ऊपर एक नायक होता है। यह अधिकारी बाजों के विशेष शब्दों के द्वारा, अथवा ध्वजा पताकाओं के द्वारा, व्यूह में खड़ी हुई सेनाओं के व्यवहार के लिए विशेष संज्ञाओं (चिन्हों या इशारों) की स्थापना करे। इन संज्ञाओं का सेना के निम्नलिखित कार्यों में उपयोग किया जाय—व्यूह में खड़ी हुई सेना के अंगों को अवसर पड़ने पर विभक्त करने में, बिखरी हुई सेना को इकट्ठी करने में, चलती हुई सेना को चलाने में, आक्रमण करती हुई सेना को लौटाने में और यथावसर आक्रमण करने में। [२]

छावनी बनाना---आचार्य ने अर्थशास्त्र के एक प्रकरण में इसी विषय को समझाया है कि छावनियाँ किस प्रकार, और किस रूप में बनाई जानी चाहिएँ। अन्यान्य बातों में वह लिखता है कि वास्तु (गृह निर्माण आदि) विद्या में सुचतुर मनुष्यों के द्वारा प्रशंसा किये हुए प्रदेश में 'नायक' वर्धकि (कारीगर) और मौहूर्तिक (निर्माण-कार्य आदि के शुभकाल का निश्चय करनेवाला ज्योतिषी) मिलकर गोलाकार लम्बे या चौकोर अथवा जहाँ जैसी भूमि हो उसके अनुसार चार (चारों दिशाओं में एक-एक) दरवाजेवाले, छः मार्गों से युक्त तथा नौ भागों वाले स्कन्धावार या छावनी का नर्माण करावे। खाई, नीचे की सफील, परकोटा,

[१] कौ० अ० २।३३ [२] कौ० अ० १०।६

एक प्रधान द्वार तथा अट्टालिकाओं से युक्त स्कन्धावार उसी अवस्था में तैयार कराया जाय जबकि शत्रुओं की ओर से आक्रमण का भय तथा वहां चिरकाल तक ठहरने की सम्भावना हो।[१]

सेना की यात्रा——सेना की यात्रा के सम्बन्ध में भी आचार्य ने अपने विचार ब्यौरेवार प्रकट किये हैं—वह लिखता है कि "ग्राम अर्थात् आबादी के मार्गों में ठहरने के योग्य स्थानों का घास लकड़ी तथा जल आदि के अनुसार निर्णय करके, और उन स्थानों में पहुँचने, ठहरने तथा चलने आदि का पहले से ही ठीक ठीक निर्णय करके फिर यात्रा की जाय। अर्थात् विजिगीषु इन सब बातों का निश्चय, आक्रमण करने से पहले, कर लेवे। उस यात्रा में जितने खाने-पीने के सामान और वस्त्र आदि की आवश्यकता हो, उससे दुगना ले जावे। यदि इतना सामान सवारियों पर ढोकर न ले जाया जा सके तो थोड़ा-थोड़ा सामान सैनिक पुरुषों को दे देवे। अथवा, बीच में ठहरने के लिए नियत किये हुए प्रदेशों में ही इन सब सामानों का संग्रह करवावे।"

यात्रा के समय राजा, सेनापति, आदि का क्या क्रम रहना चाहिए, इस विषय में कौटल्य लिखता है कि "सेना के सब से अगले हिस्से में नायक को चलना चाहिए। बीच में अन्तःपुर तथा राजा चले। इधर-उधर बाजुओं में अपनी भुजाओं से ही शत्रु के अघात को रोकनेवाली घुड़सवार सेना चले। सेना के पिछले भाग में हाथी रहें। सबसे पिछले हिस्से में सेनापति अपनी अपनी सेना के पीछे नियत रहें। आचार्य ने यह भी बतलाया है कि 'प्रसार' अर्थात् जंगल में होनेवाली आजीविका योग्य वस्तुएँ (अन्न तथा घास और भूसा) यथेष्ट मात्रा

[१] कौ० अ० १०।१

में सब ओर से लेजायी जावें एवं रास्ते में रोग निवारण आदि का समुचित ध्यान रखा जाय ।[1]

व्यूह रचना—आचार्य ने यह भी व्यौरेवार बतलाया है कि सेना की व्यूह-रचना किस-किस प्रकार की जाय और शत्रु के व्यूहों के मुकाबिले में व्यूह-रचना का क्या प्रकार होना चाहिए।[2] स्थानाभाव से उसके इस विषय सम्बन्धी विशेष विचार यहाँ नहीं दिये जा सकते। सेना की यात्रा के सम्बन्ध में पहले लिखा गया है, उसी प्रसंग में वह लिखता है कि यदि सामने की ओर से शत्रु के आक्रमण करने की सम्भावना हो तो 'मकर व्यूह' (मकर अर्थात् घड़ियाल के मुख की आकृतिवाले व्यूह) की रचना करके शत्रु की ओर चले। यदि पीछे की ओर से शत्रु के अक्रमण की सम्भावना हो तो 'शकट' व्यूह बनाकर आगे बढ़े। यदि इधर-उधर बाजुओं की ओर से शत्रु के आक्रमण की सम्भावना हो तो 'वज्रव्यूह' बना कर आगे बढ़े। इसी प्रकार चारों ओर से आक्रमण की सम्भावना होने पर 'सर्वतोभद्र व्यूह' के द्वारा आगे को चलें। यदि मार्ग इतना तंग हो कि उससे एक समय में एक ही आदमी जा सके तो 'सूची' व्यूह, बना कर चले।[3] आचार्य के इन व्यूहों के निरूपण को देखकर कौन यह कहने का साहस कर सकता है कि महाभारत आदि में लिखित व्यूह-रचना की बातें कोरी कहानी हैं!

व्यूह के समय राजा की रक्षा के लिए कौटल्य यथेष्ट व्यवस्था करता है। "पूर्णतया राजा के वेष में किसी पुरुष को व्यूह रचना का अधिष्ठाता नियुक्त किया जाय। तात्पर्य यह है कि राजा के समान स्पष्ट रूप में सेना की देख-रेख करने के लिए पूरे तौर पर राजा के ही वेष में रहनेवाले किसी

[1]कौ० अ० १०।२ [3]कौ० अ० १०।६

[2]कौ० अ० १०।२

आदमी को रखा जाय, जिससे शत्रु-पक्ष के पुरुष राजा को प्रकट रूप में पहचान न सकें।"[3]

सेना को प्रोत्साहन—कौटल्य सैन्य-संचालन सम्बन्धी अनेक उपयोगी बातों के विवेचन में इस बात को नहीं भूलता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से सेना को प्रोत्साहन देना भी बहुमूल्य है। वह लिखता है कि एकत्र की हुई सेना को राजा कहे—"मैं भी आपके समान वेतन लेने वाला हूँ। आप लोगों के साथ ही मैं इस राज्य का उपयोग कर सकता हूँ। मेरा बताया हुआ शत्रु आप लोगों को अवश्य मार देना चाहिये।" अनन्तर मंत्री और पुरोहित से इस प्रकार सेना को उत्साहित करावे, "वेदों में भी अच्छी तरह दक्षिणा आदि लेने के बाद पूर्ण यज्ञानुष्ठान के समाप्त होजाने पर उसका फल इस प्रकार सुना जाता है, 'तुम्हारी वही गति होवे, जो शूरों की होती है।' तात्पर्य यह है कि युद्ध में जीवन त्याग देनेवाले पुरुषों की जो गति होती है, वही गति अच्छी तरह पूर्ण यज्ञ समाप्त करने वालों की होती है, युद्ध में प्राण-त्याग और अनेक यज्ञों का फल समान ही होता है। इसी बात को पुष्ट करनेवाले ये पूर्वाचार्यों के दो श्लोक भी हैं। अनेक यज्ञों को करके, तप करके और यज्ञिय पात्रों को एकत्र करके ब्राह्मण जिन उच्च लोकों को प्राप्त करते हैं, शूरवीर क्षत्रिय उनसे भी अधिक उच्च लोकों को एक क्षण में ही धर्मयुद्धों में अपने प्राणों को देकर प्राप्त कर लेते हैं। जल से भरा हुआ, मंत्रों से संस्कृत किया हुआ, दर्भ (डाभ) से ढका हुआ नया शकोरा उस पुरुष को प्राप्त नहीं होता तथा वह नरक को जाता है, जो अपने मालिक के लिये युद्ध नहीं करता।"[1]

आचार्य जानता है कि बहुतसे आदमी धन-प्राप्ति की आशा से अपने कार्य में विशेष प्रोत्साहित होते हैं। अतः वह इसकी भी

कौ० अ० १०।३ [2] कौ० अ० १०।३

व्यवस्था करता है। उसने लिखा है, "सेनापति धन और सत्कार आदि से पूजा की हुई अर्थात् बढ़ाई हुई सेना को इस प्रकार कहे:— "आप लोगों में से जो सैनिक, शत्रु राजा को मार डालेगा उसे एक लाख मुद्रा की प्राप्ति होगी, अर्थात् शत्रु राजा के मारनेवाले को इतना इनाम दिया जायगा। शत्रु के सेनापति या राजकुमार के मारनेवाले को पचास हजार, मुख्य बहादुर आदमी के मारनेवाले को दस हजार, हाथी और रथ नष्ट करनेवाले को पाँच हजार, घुड़सवार या मुख्य घोड़े मारनेवाले को एक हजार, पैदल सेना के मुख्य व्यक्ति मारनेवाले को एकसौ तथा साधारण सिपाही का सिर काट कर लानेवाले को बीस मुद्रा इनाम में दी जायँगी। और, युद्ध में इस प्रकार हिस्सा लेनेवाले सिपाहियों का भत्ता और वेतन दूना कर दिया जायगा, तथा शत्रु के यहाँ जो माल मिलेगा उस पर उनका ही अधिकार होगा।"[1]

विजय प्राप्ति—पहिले कहा जा चुका है कि कौटल्य के अनुसार राज्य का कार्य आत्म-रक्षा ही नहीं, वरन् राज्य-विस्तार भी है। उसे दूर-दूर के स्थानों को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाना और शत्रु-देशों की विजय करना चाहिए। अतः सेना के द्वारा यह कार्य भी किया जाता है। अर्थशास्त्र में इन बातों का विस्तार-पूर्वक विवेचन है। आचार्य लिखता है कि 'विजिगीषु को चाहिए कि वह अपने और शत्रु के बलाबल को जानकर अर्थात् शक्ति, देश, काल, यात्राकाल (सेना के किसी देश पर आक्रमण करने का समय), बल-समुत्थान काल (सेना की उन्नति का समय), पश्चात् कोप (दूसरे देश पर आक्रमण कर देने के अनन्तर पीछे से राजधानी आदि पर आक्रमण किया जाना), क्षय (योग्य पुरुषों का नाश हो जाना), व्यय (धन आदि का नाश हो जाना), लाभ (फल सिद्धि) और

[1] कौ० अ० १०।३

आपत्ति (बाहरी तथा भीतरी) के सम्बन्ध में शत्रु के तथा अपने बलाबल को जानकर फिर शत्रु की अपेक्षा अपनी बहुत अधिक सेना लेकर ही उसपर आक्रमण करे। यदि अधिक सेना का प्रबन्ध न हो सके तो आक्रमण न करे, प्रत्युत आसन का ही अवलम्ब करे, अर्थात् चुपचाप अपने घर बैठा रहे।'[1]

आगे वह बताता है कि शत्रु के कोष तथा सैन्य का नाश करते हुए, तथा अमात्य आदि का वध करते हुए विजिगीषु को शत्रु के दुर्ग को चारों ओर घेरा डालने का काम करना चाहिए।........उपजाप (शत्रु के आदमियों को बहकाना), अपसर्प (अपने गूढ़ पुरुषों के द्वारा शत्रु पक्ष का नाश करना), वामन (विष आदि विषम उपायों का प्रयोग करके शत्रु का नाश करना), पर्युपासन (शत्रु के दुर्ग के चारों ओर घेरा डालना), तथा अवमर्द (अन्य उपायों से शत्रु के दुर्ग का विध्वंस करना) ये पाँच शत्रु के दुर्ग को प्राप्त करने के उपाय हैं।[2]

बुद्धि की श्रेष्ठता—युद्ध में सफलता प्राप्त करानेवाली तीन शक्तियाँ मानी जाती हैं, (१) उत्साह शक्ति, (२) प्रभाव शक्ति (शारीरिक बल तथा सैनिकों की संख्या) और (३) मंत्र शक्ति (बुद्धि बल) इनके पारस्परिक गुरु लाघव की तुलना के विषय में अन्य आचार्यों के विचारों की अलोचना करने के अनन्तर कौटल्य ने यह प्रतिपादन किया है कि प्रथम से दूसरी का महत्त्व अधिक है, और तीसरी इन दोनों से ही उत्तम है।[3] नीति-निपुण आचार्य लिखता है कि धनुर्धारी के धनुष से छोड़ा हुआ बाण सम्भव है किसी एक पुरुष को मारे या न मारे, परन्तु बुद्धिमान व्यक्ति के द्वारा

[1] कौ० अ० ६।१० [2] कौ० अ० १३।४

[3] कौ० अ० ६।१

किया हुआ बुद्धि का प्रयोग गर्भस्थित प्राणियों को भी नष्ट कर देता है।[२]

युद्धों के भेद—अर्थशास्त्र में आचार्य कौटल्य ने आठ प्रकार के युद्धों का उल्लेख किया है :—निम्न युद्ध (जंगल तथा नीचे स्थानों में युद्ध), स्थल युद्ध, प्रकाश युद्ध (आमने-सामने होने वाला युद्ध), कूट युद्ध (कपटपूर्वक होनेवाला युद्ध), खनक-युद्ध (खाई खोदकर होनेवाला युद्ध), आकाश युद्ध, दिवा युद्ध (दिन में होनेवाला) और रात्रि युद्ध (रात में होनेवाला युद्ध)। युद्ध के इन भेदों में एक बात ध्यान देने की है। प्राय: प्राचीन भारत को धर्म युद्धों के लिए प्रसिद्ध माना जाता है, परन्तु आचार्य तो अपने ग्रन्थ में कूट युद्ध को भी स्थान देता है।

युद्ध की मर्यादा; शत्रु से व्यवहार—यद्यपि युद्ध का नाम ही बहुत से पाठकों को अप्रिय मालूम हो सकता है, क्योंकि इस में विजय प्राप्ति के लिए शत्रु का दमन और विनाश करना पड़ता है तथापि उन्हें यह जानकर संतोष होगा कि भारतीय संस्कृति के अनुसार युद्ध में भी कुछ दयायुक्त नियमों का पालन करना आवश्यक होता था, सैनिक मनमानी कार्रवाई नहीं कर सकते थे। इस बात का यथेष्ट ध्यान रखा जाता था कि शत्रु की, युद्ध में भाग न लेनेवाली, सर्वसाधारण प्रजा अर्थात् किसानों आदि को कष्ट न पहुँचाया जाय। मेगस्थनीज आदि विदेशी लेखकों और यात्रियों ने इस बात की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। यहाँ अंग्रेजी की वह कहावत चरितार्थ नहीं होती थी, जिसके अनुसार युद्ध (तथा प्रेम) में किया हुआ सभी कार्य उचित माना जाता है।

शत्रु के दुर्ग को घेरने के प्रसंग में कौटल्य लिखता है कि 'इस अवस्था में भी विजिगीषु शत्रु के जनपद को पहले के समान ही अभय स्थान में रखे। अर्थात् जनपद को किसी तरह की पीड़ा

[१] कौ० अ० १०।६ [२] कौ० अ० २।३३

न होने दे, वरन् उसकी रक्षा ही करे। यदि जनपद विजिगीषु के विरुद्ध आन्दोलन करे तो उसे धन आदि देने तथा कर आदि छोड़देने से, शान्त करे। परन्तु यह उसी अवस्था में करना चाहिए, जब जनपद अपने स्थान को छोड़कर कहीं बाहर न जा रहा हो। बाहर जाने के लिए तो उसे किसी तरह की सहायता आदि न देवे। उस जनपद में भिन्न-भिन्न स्थानों पर अथवा एक ही स्थान पर अधिक आदमियों को बसावे, क्योंकि मनुष्यों से रहित प्रदेश जनपद नहीं कहला सकता और, जनपद से रहित, राज्य नहीं हो सकता। यदि जनपद ही न होगा तो राज्य किस पर किया जायगा)। यदि वह, जनपद शत्रुता का भाव रखे तो विजिगीषु उसकी फसल को तथा उत्पन्न हुए अन्न आदि को नष्ट कर दे और वीवध (अनाज, घी, तेल आदि का राज्य में आना) तथा प्रसार (घास, लकड़ी आदि का राज्य में आना) रोक दे।[1]

बाहरी रक्षा सम्बन्धी अन्य बातें—स्मरण रहे की उस समय भारतवर्ष स्वाधीन था, और वह अपनी सैनिक नीति स्वयं निश्चित करता था। समस्त सेना पर प्रभुत्व और नियंत्रण यहाँ के ही राज्य का होता था। सेना के उपयोग में आनेवाली अनेक प्रकार की तोप, तीर, तलवार आदि सामग्री के लिये यह देश परावलम्बी नहीं था, इसके तैयार करने तथा संग्रह करके रखने के लिये राज्य का 'आयुधा-गाराध्यक्ष' के अधीन एक स्वतंत्र विभाग था, जो आवश्यकतानुसार अन्य विभागों से भी सहायता लेता था।

सैनिक सामग्री-- अर्थशास्त्र में युद्धोपयोगी वस्तुओं का बहुत विस्तारपूर्वक विवेचन है।[2] आधुनिक भारतीय पाठक यह विचार करके आश्चर्य चकित हो जाता है कि अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व उस के देशवासी उस सामग्री का उपयोग करते हुए कितने

[1] कौ० अ० १३।४ [2] कौ० अ० २।१८

वीर और क्षात्रतेज सम्पन्न होंगे, और उसके निर्माण में कितनी कुशलता का परिचय देते होंगे। उसे इस विषय में कोई संदेह ही नही रहता कि उस प्राचीनकाल में भी यहाँ गोला बारूद और आग्नेकय अस्त्र आदि का ऐसा आविष्कार और चलन हो गया था कि यदि इसे भी सभ्यता का माप समझा जाय तो भारतवर्ष इस अंग में भी आजकल के उन्नत राष्ट्रों से कई शताब्दियाँ आगे था।

आचार्य कौटल्य द्वारा बतलायी हुई कुछ मुख्य सैनिक सामग्री इस प्रकार है :—

स्थिति यंत्र (एक स्थान पर रख कर या गाड़कर आक्रमण करने के यंत्र)—सर्वतोभद्र (चारों तरफ मारनेवाला यंत्र), जामदग्नि (एक प्रकार की बड़े मुंह की तोप), विश्वासघाती (ऐसा यंत्र जो स्पर्श करते ही छूने वाले को मार डाले), संघाटि (अग्नि लगाने का यंत्र), यानक (पहियों या सवारियों पर रखा जानेवाल यंत्र) पर्जन्यक (वरुणास्त्र अर्थात् आग बुझाने का यंत्र), उर्द्धवबाहु (बड़ा भारी स्तम्भ जो पास आने वाले को मार देवे), अर्द्धबाहु (उर्द्धवबाहु से आधे परिमाणवाला यंत्र)

चल यंत्र– पंचालिक (तीक्ष्ण मुखवाला बढ़िया लकड़ी का यंत्र जो परकोटे के बाहर जल के बीच में शत्रु को रोकने के काम आये), देवदंड (वगैर कील का परकोटों पर से मारने का मुद्गर), सूकरिका (सूत और चमड़े की बनी, एक प्रकार की ढाल) मुसलयष्टि (मजबूत लाठी, जिसके आगे शूल हों), हस्तिवारक (दो या तीन मुख की, हाथियों को मारने की लकड़ी), तालवृन्त (चारों ओर को घूमने वाला यंत्र विशेष), मुद्गर, द्रुघण (मुद्गर के समान एक यंत्र, गदा, स्पृक्तला (कांटोंवाली गदा), कुद्दाल (कसी या फावड़ा), आस्फोटिम (चमड़े से ढका हुआ, चार कोने वाला, मट्टी के ढेले या पत्थर आदि फेंकने का यंत्र), उत्पाटिम (खम्भे आदि उखाड़ने का

यंत्र), उद्घाटिम (मुद्गर के समान आकृतिवाला एक यंत्र विशेष), शतघ्नी (तोप, बन्दूक, या मोटी और लम्बी कीलों से युक्त, बहुत बड़ा स्तम्भ सा, जो किले की दीवार के ऊपर रख जाता है), त्रिशूल और चक्र।

हलमुख यंत्र—धारदार मुख या नोक के भाले, बर्छी या तलवार विविध आकार और परिमाण के अनुसार; इनके कितने ही भेद बताये गये हैं।

धनुयंत्र या धनुष ; ताल (ताड़ का), चाप (बांस का), दारु (किसी मजबूत लकड़ी का), शार्ङ्ग (सींग का)।

ज्या (धनुष की डोर); रामबांस, मुर्वा, सन, आख की रुई, रेशम या तांत की।

बाण ; बांस, नरसल आदि के बने हुए। दंडासन (आधा लोहे का और आधा बांस का), नाराच (सम्पूर्ण लोहे का)। इनके अग्रभाग लोहे, हड्डी या मजबूत लकड़ी के होते हैं।

तलवार ; तीन प्रकार की, जिसका अगला भाग काफी टेढ़ा हो, कुछ गोलाकार हो, या जिसका आकार लम्बा और पतला हो।

तलवार की मूठ ; गैंडे या भैंस के सींग की हाथी-दांत या लकड़ी की, या बांस की जड़ की।

परशु (फरसा), कुठार (कुल्हाड़ा), फावड़ा, गड़ासा, खुर्पा, आरा, गोफिया, शिला आदि।

कवच (शरीर के भिन्न-भिन्न भागों की रक्षा करनेवाले आवरण) लोहे, सूत, चमड़े, खुर या लकड़ी के।

अंकुश; चाबुक, पताका (झंडे), विषैली औषधियाँ।

दुर्ग गुप्तचर और राजदूत—बाहरी रक्षा के लिये सेना के अतिरिक्त दुर्गों अर्थात् किलों की भी यथेष्ट व्यवस्था थी। राज्य की सीमा पर आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार भाँति-भाँति के किले बनाये जाते थे। अर्थशास्त्र में इनके जो भेद बताये गये हैं, उनका

उल्लेख पहले हो चुका है। ये 'अन्तपाल' के निरीक्षण में रहते थे। रक्षा तथा युद्ध के कार्य में गुप्तचरों से तरह-तरह का काम लिया जाता था। ये अन्य देशों में जाकर, वहाँ की परिस्थिति, तथा राजा प्रजा और अधिकारियों के भावों और विचारों का पता लगाते और उनमें फूट डालने का प्रयत्न करते थे, तथा उनकी शक्ति एवं निर्बलता की सूचना अपने राज्य को देते थे। कौटल्य ने विदेशों में अनुभवी तथा सुयोग्य राजदूत रखने की भी व्यवस्था की है, जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक कार्यों के अतिरिक्त व्यापार-वृद्धि और देश-रक्षा के कार्य में भी समुचित योग प्रदान करते थे।

तेरहवाँ अध्याय

विदेश-नीति

शासनपद्धति की पुस्तक में, आधुनिक दृष्टि से विदेश-नीति का समावेश अनिवार्य नहीं है। परन्तु कौटल्य की शासनपद्धति में हमें इस पर विचार करना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि बहुत से राजनीति-लेखक राज्य के कार्यों में राज्य के विस्तार-कार्य को विशेष महत्त्व नहीं देते, और कितने ही तो इसकी गणना ही नहीं करते, प्राचीन भारतीय नीतिकारों ने स्पष्ट सूचना की है कि प्रभुता पूर्ण तभी समझी जा सकती है, जब राज्य को बाह्य स्वाधीनता भी हो, वह दूसरे राज्यों से संधि विग्रह आदि करने में स्वतंत्र हो, अर्थात् कोई अन्य राज्य उसके वैदेशिक सम्बन्ध में हस्तक्षेप न कर सके।

कौटल्य राज्य के लिए आन्तरिक प्रभुता[1] को ही आवश्यक नहीं समझता, वह विजय तथा राज्य-विस्तार को भी राज्य का एक प्रधान कार्य मानता है। अर्थशास्त्र में, विदेशों में कई प्रकार के कुशल और अनुभवी राजदूत तथा गुप्तचर रखने के विषय में भी विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। अर्थशास्त्र के पन्द्रह में से कम से कम नौ अधिकरण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विजय, संग्राम,

[1]राज्य की आन्तरिक प्रभुता का आशय केवल यह नहीं है कि साधारण जनता उसके कानूनों का पालन करे, वरन् यह है कि उसका कोई भी सदस्य, चाहे वह राजा ही क्यों न हो, कानून के बाहर न हो। हमने अन्यत्र बताया है कि कौटल्य के राज्य में बड़े से बड़ा अधिकारी क्या, स्वयं राजा तक भी कानून- विरुद्ध कार्य (अपराध) करने की दशा में दंड का भागी होता था।

संधि आदि विषयों से सम्बन्धित है। आचार्य ने विदेश-नीति का पर्याप्त विवेचन किया है।

विदेश-नीति और राज्य—विदेश-नीति की दृष्टि से कौटल्य ने राज्यों के विविध भेद किये हैं।[1] वह बतलाता है कि 'आत्म-सम्पन्न, अमात्य आदि द्रव्यप्रकृति सम्पन्न, और नीति का आश्रय-भूत राजा विजिगीषु कहाता है। विजिगीषु राज्य के चारों ओर लगे हुए पड़ौसी राज्यों के अधिपति 'अरि प्रकृति' कहाते हैं। एक राज्य से अलग परन्तु उसके पड़ौसी राज्य से लगा हुआ राज्य पहले राज्य का मित्र होता है। इस प्रकार जब विजिगीषु शत्रु को जीतने के लिए प्रवृत्त होता है, तो भूमि की दूरी के अनुसार सामने की ओर अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्र-मित्र, और अरिमित्र-मित्र—ये पाँच राजा राज्यों के क्रम से आते है। तात्पर्य यह है कि अपने देश से लगे हुए देश का राजा शत्रु, उसके आगे का मित्र, और उसके आगे का अरिमित्र, इसी प्रकार आगे समझिए। यह तो सामने की बात हुई: अब पीछे के बात लें। विजिगीषु के पीछे की ओर पार्ष्णिग्राह (पिछली ओर का शत्रु), आक्रन्द (पिछली ओर का मित्र), (पार्ष्णिग्राह का मित्र) और आक्रान्दासार (आक्रन्द का मित्र) ये चार राजा होते हैं।'

यहाँ एक बात विचारणीय है, आचार्य ने अपने से मिले हुए पड़ोसी राज्य को शत्रु राज्य कहा है। यह बात अनेक दशाओं में ठीक भी होती है, परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। उदाहरणवत् इंगलैंड और फ्रांस में अनेक बार शत्रुता रही है तो समय-समय पर मित्रता भी रही है। इसी प्रकार जर्मनी और रूस आदि की बात है। वास्तव में दो राज्य किस भौगोलिक स्थिति में शत्रु ही होंगे, और, किस स्थिति में मित्र ही रहेंगे, यह कहना कठिन है। जो दो राज्य आज मित्र हैं, कल शत्रु हो सकते हैं, और आज

[1] कौ॰ आ॰ ६।२

परस्पर लड़नेवाले राज्य कल सन्धि करके मित्र बन सकते हैं।

शत्रु और मित्रों के भेद—"अपने राज्य के समीप ही राज्य करनेवाला स्वाभाविक शत्रु, तथा अपने समान उच्च वंश में उत्पन्न राजा 'सहज शत्रु' होता है। स्वयं विरुद्ध हो जानेवाला अथवा किसी को विरोधी करदेनेवाला 'कृत्रिम शत्रु' कहाता है।" श्री० तामस्कर जी का कथन है कि यहाँ पर सहज और कृत्रिम का केवल यह अर्थ हो सकता है कि एक कट्टर बैरी होता है, तो दूसरा केवल झगड़े खड़े किया करता है।

'एक राज्य के व्यवधान से राज्य करनेवाला स्वभावतः मित्र तथा ममेरा या फूफेरा भाई ये सहज मित्र होते हैं। धन या जीविका के लिए जो आश्रय ले वह कृत्रिम मित्र कहाता है।'

मध्यम और उदासीन—'जिसका राज्य अपने और शत्रु के राज्य से मिला हुआ और जो, शत्रु से मेल रहे या न रहे, दोनों अवस्थाओं में दोनों की सहायता कर सकता है और जो दोनों का अलग-अलग सामना कर सकता है, वह 'मध्यम' (राजा) कहाता है। जो राजा अरि, विजिगीषु और मध्यम इनकी प्रकृतियों से बाहर रहता है, और जो इन्हें, चाहे ये मिले रहें या न मिले रहें, सहायता पहुँचा सकता है, अथवा तीनों का अलग-अलग सामना कर सकता है, वह 'उदासीन' (राजा) कहाता है।

इस प्रकार राजाओं के मुख्य बारह भेद हुए:—(१) विजिगीषु, (२) अरि, (३) मित्र, (४) अरिमित्र, (५) मित्रमित्र, (६) अरिमित्र-मित्र, (७) पार्ष्णिग्राह, (८) आक्रन्द, (९) पार्ष्णिग्राहासार, (१०) आक्रान्दासार, (११) मध्यम और(१२) उदासीन।

राज मण्डल—प्राचीन साहित्य में मंडल या राज-मंडल का बहुत उल्लेख है। कौटल्य लिखता है कि विजिगीषु, उसका मित्र और मित्र का मित्र ये तीन राजप्रकृति हैं। इनमें से एक-एक की

अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष और दण्ड (सेना)-ये पाँच-पाँच अर्थात् तीनों की पन्द्रह द्रव्य प्रकृतियाँ होती हैं। इस प्रकार वे तीनों इन पन्द्रह के साथ मिल कर अठारह अवयव वाला मंडल होता है। इसे विजिगीषु मंडल कहा जाता है। इसी प्रकार अरि मण्डल, मध्यम मंडल, और उदासीन मंडल समझ लेना चाहिए। इस प्रकार चार मंडलों का संक्षेप में निरूपण किया गया। इन चारों की कुल बहत्तर प्रकृयियाँ हुईं—१२ राज प्रकृति, और ६० द्रव्य प्रकृति।[1]

विदेश-नीति के भेद और उनका प्रयोग—आचार्य ने विदेश-नीति के छः भेद माने हैं और उन्हें षाड्गुण्य नीति कहा है। वह लिखता है कि संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, और द्वैधीभाव ये छः विदेश नीति के भेद हैं। दो राजाओं का किन्ही शर्तों पर मेल हो जाना 'संधि' कहाता है। शत्रु का कोई अपकार किया जाना 'विग्रह' कहा जाता है। संधि आदि का प्रयोग न करके तटस्थ रहने को 'आसन' कहते हैं। दूसरे पर चढ़ाई करना 'यान' कहलाता है। दूसरे बलवान राजा के सामने अपने स्त्री पुत्र या स्वयं अपने आपको अर्पण कर देना 'संश्रय' कहाता है। समय-समय पर संधि और विग्रह दोनों के उपयोग का नाम 'द्वैधी' भाव' है।[2]

आगे आचर्य बतलाता है कि इन छः में से किस अवस्था में किसका प्रयोग किया जाय। वह लिखता है कि 'यदि शत्रु से अपने आपको निर्बल समझे, तो संधि कर लेवे, अपने आप को बलवान समझे तो विग्रह करें। न शत्रु मुझे दबा सकता है, न मैं ही शत्रु को दबा सकता हूँ, ऐसी अवस्था में 'आसन' गुण का प्रयोग करे। शक्ति, देश, काल आदि गुणों के अधिक या ठीक होने पर 'यान' का प्रयोग करे। दुर्बल होने पर राजा 'संश्रय' से

[1] कौ० अ० ६।२ [2] कौ० अ० ७।१

काम निकाले। किसी कार्य में सहायता की अपेक्षा होने पर 'द्वैधी भाव का प्रयोग करे।

कौटल्य ने इनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में, तथा तुलनात्मक रूप से इतना विस्तारपूर्वक लिखा है कि इस विषय का एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही बन सकता है, जिसमें आधुनिक कूटनीति के पंडितों के लिये अनेक विचारणीय बातों का समावेश होगा। परन्तु इस पुस्तक के लिए तो वह चर्चा प्रायः अप्रासंगिक ही मानी जायगी। अस्तु, जब संधि और विग्रह दोनों से एक ही समान लाभ हो तो आचार्य संधि के अवलम्बन का आदेश करता है। कारण, विग्रह करने पर प्राणियों का नाश, धान्य आदि का व्यय, दूसरे के देश में जान, और शत्रु के द्वारा विष आदि के प्रयोग से कष्ट आदि अनर्थ अवश्यम्भावी हैं।[1]

स्मरण रहे कि वह किसी विशेष नीति का पक्ष नहीं लेता। वह तो जैसी परिस्थिति हो उसमें तदनुसार नीति अवलम्बन किये जाने का आदेश करता है। वह लिखता है कि इन छः गुणों में से जिस किसी (संधि आदि) गुण का ग्रहण करने पर विजिगीषु यह समझे कि मैं इस संधि आदि गुण का आश्रय लेता हुआ अपने दुर्ग, सेतुकर्म, व्यापारी मार्ग, शून्य निवेश (नयी बस्ती बसाना), खाना, लकड़ियों तथा हाथियों के बन आदि कामों के करने में समर्थ हो सकूँगा, और शत्रु के दुर्ग आदि कार्यों को नष्ट कर सकूँगा, उस ही का अवलम्बन करे।'[2]

आचार्य ने विविध प्रकार की विदेश-नीति के प्रयोगार्थ अन्य राज्यों के साथ साम(संधि), दाम (भेंट या दान), दंड और भेद (फूट) के उपाय यथा योग्य व्यवहार में लाने का आदेश किया है। प्राचीन विदेश नीति में भेद का स्थान दिया जाना कुछ पाठकों को खटकना सम्भव और स्वाभाविक है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए

---

[1] कौ० अ० ७।२ [2] कौ० अ० ७।१

कि आधुनिक नीति में भी इसका यथेष्ट स्थान है। पिछले तथा वर्तमान योरपीय महायुद्ध में इसका खूब परिचय मिला है। हाँ, प्रकट में इसकी चर्चा नहीं होती, परन्तु इससे वस्तुस्थिति में अन्तर नहीं आता।

सन्धियाँ और उनके भेद—कौटल्य ने सन्धि आदि छः गुणों के सम्बन्ध में बहुत विस्तारपूर्वक और व्यौरेवार लिखा है। हम यहाँ उसके सन्धि सम्बन्धी कुछ खास-खास विचार संक्षेप में देते हैं। वह पहले बतलाता है कि विजिगीषु अपनी शक्ति के अनुसार सन्धि आदि छः गुणों का यथोचित प्रयोग करे। बराबर तथा अधिक शक्तिवाले के साथ सन्धि कर लेवे, हीन शक्तिवाले के साथ विग्रह का प्रयोग करे। सम, हीन, तथा अधिक शक्तिवान सब के प्रति सन्धि आदि छः गुणों के उपयोग का निरूपण करके, वह हीन के सम्बन्ध में कुछ विशेषताओं का उल्लेख करता है। वह कहता है—

सेना आदि के द्वारा बलवान राजा से दबाया हुआ दुर्बल राजा जल्दी ही धन, सेना, आत्मा और भूमि समर्पण करके बलवान से सन्धि कर ले। निर्धारित सेना लेकर, अथवा निर्धारित दंड के अनुसार धन लेकर विजित स्वयं शत्रु के पास जाय। इस प्रकार की सन्धि 'आत्मामिष' सन्धि कहाती है। जिस सन्धि में सेनापति और राजकुमार को शत्रु की सेवा में उपस्थित करके राजा की रक्षा की जाती है, उसे 'पुरुषान्तर सन्धि' कहते हैं। किसी स्थान पर (शत्रु के कार्य को सिद्ध करने के लिये) मैं स्वयं अकेला ही जाऊँगा, अथवा मेरी सेना जायगी, इस प्रकार की शर्त करके जो सन्धि की जाती है, उसे 'अदृष्ट पुरुष' सन्धि कहते हैं। इसमें सेना के मुख्य व्यक्ति और स्वयं राजा की रक्षा हो जाती है (उन्हें शत्रु के पास जाना नहीं पड़ता)। पहली दो सन्धियों में (विश्वास के लिए प्रबल राजा) मुख्य राज- व्यक्तियों की कन्याओं

का विवाह सम्बन्ध करे तथा तीसरी (अदृष्ट पुरुष) सन्धि में शत्रु को गूढ़ प्रयोगों के द्वारा वश में करे। ये तीनों सन्धि 'दंडोपनत' सन्धि कहाती हैं।

बलवान शत्रु से युद्ध में गिरफ्तार किये हुए अमात्य आदि प्रकृतियों को जिस संधि में धन देकर छुड़ाया जाता है, उसे 'परिक्रम' सन्धि कहते हैं। इस संधि में जब सुखपूर्वक थोड़ा-थोड़ा धन बहुत बार में देना तय किया जाय तो वह 'उपग्रह' कहाती है। तथा जब देय धन के विषय में यह नियम कर दिया जाय कि अमुक स्थान तथा समय में इतना धन अवश्य देना होगा तो इस 'उपग्रह' को 'अत्यय' कहते हैं। जब धन सुखपूर्वक देने की बात हो तो वह सन्धि भविष्य में कन्यादान से भी अच्छी है। यह संधि शत्रु और विजिगीषु को विश्वासपूर्वक आपस में मिलाने का साधन होती है, इसे 'सुवर्ण संधि' कहते हैं। इस के विपरीत जिस संधि में अत्यधिक धन राशि तुरन्त देनी पड़े, वह 'कपाल' संधि कहाती है। परिक्रम आदि चार संधियों में से पहली दो में शत्रु को कुप्य (कपड़े, कवच आदि असार वस्तुएँ) देवे अथवा छलपूर्वक बूढ़े हाथी, घोड़े देवे (जिन्हें ऐसा विष खिला दिया गया हो कि दो तीन महीने में मर जायँ), तीसरी संधि में देय धन का आधा हिस्सा देकर कह देवे कि आजकल मेरे काम बहुत बिगड़ रहे हैं (अतः इसी पर संतोष कीजिये), चौथी अर्थात् कपाल संधि में "देता हूँ, देता हूँ" कहकर टालता जाय। ये चारों संधियां कोष दिये जाने के कारण 'कोषोपनत' संधियाँ कहलाती हैं।

प्रकृतियों की रक्षा के लिए, भूमि का कुछ हिस्सा शत्रु को देकर जो संन्धि की जाती है उसे 'आदिष्ट' सन्धि कहते हैं। दी हुई भूमि में गूढ़ पुरुष और चोरों के द्वारा उपघात या उपद्रव कराने के लिए (जिससे कि फिर यह भूमि मेरे ही पास आ जाय)

जो विजिगीषु समर्थ हो उसके लिए यह सन्धि बड़े काम की है। राजधानी और किलों को छोड़कर सार पदार्थ ली हुई भूमियों को शत्रु को देकर जो सन्धि की जाय उसे 'उच्छिन्न' सन्धि कहते हैं। शत्रु पर व्यसन आने की प्रतीक्षा करनेवाले राजा के लिए यह सन्धि अच्छी होती है। उपज देकर जिस सन्धि में भूमि को छुड़ा लिया जाता है, उसे 'अवक्रय' सन्धि कहते हैं, तथा जिस सन्धि में उपज के अतिरिक्त कुछ और भी दिया जाय, उसे 'परिदूषण' सन्धि कहते हैं। इन चार सन्धियों में से पहली दो में शत्रु की विपत्ति की प्रतीक्षा करे तथा पिछली दो में भूमि से उत्पन्न वस्तुओं को लेकर शत्रु का प्रतिकार करे। ये चारों सन्धियाँ 'देशोपनत सन्धि' कहाती हैं।

इन तीन प्रकार की (दंडोपनत, कोषोपनत, देशोपनत) हीन सन्धियों को निर्बल राजा अपने कार्य, देश और समय के अनुसार उपयोग में लावे।

शत्रुओं का दमन—कौटल्य ने शत्रु राजाओं के दमन करने के विषय में बहुत विस्तारपूर्वक लिखा है, उसने भले बुरे सभी उपायों के अवलम्बन का आदेश किया है। उदाहरणवत् उसने विविध प्रकार के विषों तथा औषधियों का प्रयोग बतलाया है, उन्हें छिपकर मारने, जासूसों द्वारा उनकी भीतरी कमजोरियों का पता लगाने, उन्हें धोखा देने, उनमें फूट डालने, यहाँ तक कि मंत्र और जादू टोने आदि का भी उपयोग करने का विचार प्रकट किया है।[1] साथ ही उसने यह भी बतलाया है कि यदि शत्रु ही विजिगीषु के लिए उक्त उपायों का प्रयोग करने लगे तो ऐसी अवस्था में विजिगीषु को उनका क्या प्रतिकार करना चाहिए।[2]

इस प्रकार कुछ पाठकों को अर्थशास्त्र का 'औपनिषदिक' शीर्षक चौदहवाँ अधिकरण बहुत अरुचिकर प्रतीत होगा, और उनकी

[1]कौ० अ० १४।१,२,३, [2]कौ० अ० १४।४

इसके प्रणेता के प्रति अश्रद्धा होगी।[1] परन्तु स्मरण रहे कि ये बातें अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व की हैं, और बीसवीं शताब्दी के सभ्य कहे जानेवाले राष्ट्रों में इस समय भी प्रचलित हैं, यही नहीं, आधुनिक विज्ञान की उन्नति ने उनकी तीव्रता और भी बढ़ा-रखी है, अब उदारता और नैतिकता की बातें बघारते हुए भी आजकल के विकसित राज्य इस दिशा में कुछ पीछे न रहकर दिन-रात आगे ही बढ़ते जा रहे हैं, तो कौन विवेकशील व्यक्ति आचार्य कौटल्य पर दोषारोपण करने का साहस करेगा, विशेषतया जब कि वह इस प्रसंग के आरम्भ में ही यह सूचना करता है कि 'विजिगीषु, चातुर्वर्ण्य की रक्षा के लिए, अधार्मिक पुरुषों में 'औपनिषदिक' (औषध और मंत्रों के रहस्य) का प्रयोग करे।'[2] इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य का इन उपायों के प्रयोग में, एक ऊँचा लक्ष्य है और वह इनका क्षेत्र अधार्मिक पुरुषों तक ही सीमित रखता है।

विजेता का व्यवहार—यद्यपि कौटल्य इस बात का बहुत इच्छुक है कि 'राजा अपनी शक्ति और सिद्धि को बढ़ाने का सर्वदा पूरा प्रयत्न करे'[3] वह विजेता को विजित राष्ट्र में स्वच्छन्दतापूर्वक व्यवहार करने से वर्जित करता है। वह लिखता है कि विजेता मारे हुए राजा के भूमि, द्रव्य, पुत्र और स्त्री आदि पर कभी अधिकार न करे। किन्तु उनको एवं उनके वंश के अन्य व्यक्तियों को भी उनके अपने उचित स्थानों पर नियुक्त कर दे। यदि राजा को वश में करने के लिए किये जानेवाले युद्ध में वह राजा मारा जाय तो उसके पुत्र को ही राज्याधिकार पर स्थापित करे अर्थात् राजा बनावे। विजिगीषु के इस प्रकार आचरण करने से दंडोपनत

---

[1] आचार्य कौटल्य ने राजनीति को धर्मनीति से प्रायः पृथक रखा है।

[2] कौ० अ० १४।१ [3] कौ० आ ६।२

राजा न केवल विजिगीषु के ही अधीन रहते हैं, वरन् उसके पुत्र और पौत्र आदि के भी अनुगामी बने रहते हैं।'[1]

अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व निर्धारित की हुई आचार्य की यह नीति आधुनिक राजनीतिज्ञों के लिए भी शिक्षाप्रद है। अस्तु, इससे स्पष्ट है कि कौटल्य राजा को यह आदेश करता है कि वह एक सीमा तक दूसरे राज्यों को अपने प्रभाव क्षेत्र में लावे परन्तु वह उन्हें स्वयं न हड़प जाय।

शान्ति स्थापन—विजित स्थान में शान्ति स्थापित करने के विविध प्रयत्नों का विचार करते हुए आचार्य लिखता है कि विजिगीषु शत्रु के दोषों को अपने गुणों से ढक दे, तथा शत्रु के गुणों को अपने दुगने गुणों से ढक देवे। विजिगीषु सदा अपने धर्म, कर्म, अनुग्रह (सहायता), परिहार (राजकर आदि छोड़ना), दान और सत्कार आदि के द्वारा प्रजा के अनुकूल हित करने में ही लगा रहे। अपने पूर्व कथन के अनुसार कृत्य पक्ष (क्रुद्ध, लुब्ध, और भीत वर्ग) को धन आदि देने के द्वारा सदा प्रसन्न रखे तथा जिसने उस (बिजिगीषु) के लिए बहुत परिश्रम किया हो, उसे और भी अधिक धन आदि देकर खूब प्रसन्न रखे; क्योंकि पहले कहकर फिर मुकर जनेवाले राजा का कोई विश्वास नहीं करता।[2]

विजित देश की प्रजा से बर्ताव—हम पहले बता चुके हैं कि आचार्य ने राजा को अपनी स्वदेशीय प्रजा के प्रति कैसा उत्तम आचरण करने का आदेश किया है। विजित राज्य की प्रजा के प्रति भी उसकी नीति कितनी प्रशंसनीय है, यह अर्थशास्त्र के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा। 'वह राजा भी सब का अविश्वसनीय हो जाता है, जो अपने (विजित) प्रजावर्ग के विरुद्ध आचरण करता है। इसलिए राजा को उचित है कि

[1] कौ० अ० ७।१६ [2] कौ० अ० १३।५

वह अपने प्रजावर्ग के समान ही शील, वेष, भाषा, तथा आचरण को ग्रहण करे, और देश के देवता, समाज, उत्सव, तथा विहारों में भक्तिभाव रखे अर्थात् इन कार्यों में समय-समय पर सहयोग देता रहे।[1] इस प्रकार कौटल्य पर-राज्य की बहुत-कुछ बुराई दूर करके उसे स्वराज्य नहीं तो कम से कम सुराज्य बनाने की चेष्टा अवश्य करता है।

दुर्बल राजा का विचार—कौटल्य ने शासन-पद्धति सम्बन्धी जिन नियमों का आदेश किया है, उनके सम्यक् पालन किये जाने से राजा विजयी और बलवान ही होता है, तथापि आचार्य ने अर्थशास्त्र में इस विषय का भी विचार किया है कि प्रबल अभियोक्ता द्वारा आक्रमण किए जाने की दशा में दुर्बल राजा को क्या करना चाहिए। वह लिखता है कि 'अभियोक्ता तीन प्रकार के होते हैं, धर्मविजयी, लोभविजयी और असुरविजयी। इसमें से धर्मविजयी आत्म समर्पण करने से ही संतुष्ट होजाता है। उसे संतुष्ट रखा जाय, केवल इस विचार से ही नहीं कि उससे भय न रहे, किन्तु इस विचार से भी कि ऐसा करने पर दूसरे शत्रु से भी भय न होगा। लोभविजयी अभियोक्ता भूमि और द्रव्य लेने से संतुष्ट होता है। इस लिए दुर्बल राजा उसे धन आदि के द्वारा संतुष्ट कर देवे। असुरविजयी अभियोक्ता तो भूमि, द्रव्य, पुत्र, स्त्री और प्राणों तक का भी अपहरण कर लेने पर ही संतुष्ट होता है। उसे भूमि और द्रव्य देकर अनुकूल बनावे तथा संधि आदि के द्वारा उस का प्रतिकार करे।[2]

राजदूत—इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि राजदूतों के सम्बन्ध में कौटल्य का क्या कथन है। कारण, विदेश-नीति का मुख्य उद्देश्य विदेशों में अपने राज्य के हितों की रक्षा करना तथा अपना प्रभाव या शक्ति बढ़ाना

---

[1] कौ० अ० १३।५ [2] कौ० अ० १२।१

होता है, और इस कार्य में सफलता प्राप्त करना बहुत कुछ राजदूतों पर निर्भर होता है। वास्तव में सुयोग्य राजदूतों द्वारा अनेक बार ऐसे कार्य हो जाते हैं जो सेना के बल से भी सहज ही नहीं किये जा सकते। अस्तु, आचार्य ने अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के सोलहवें अध्याय में केवल राजदूतों के विषय में ही विचार किया है। कौटल्य कहता है "शत्रु के देश में राजा का संदेश सुनाने और शत्रु का संदेश सुनने के लिए जाना, पहले की हुई संधि की रक्षा करना, अवसर आने पर राजा के प्रताप का प्रकाशन करना, मित्रों का संग्रह करना, शत्रु के कृत्यपक्ष के पुरुषों में भेद डालना, शत्रु के मित्रों को उससे भिन्न करना, गूढ़ पुरुषों तथा सेना को भगा देना, शत्रु के बन्धु तथा रत्नों का अपहरण करना अर्थात् उन्हें अपने अधीन करना, शत्रु के देश में रहते हुए गुप्तचरों के कार्यों को ठीक ठीक जानना, अवसर आने पर पराक्रम दिखाना, संधि की दृढ़ता के लिए आधि (जमानत) रूप में रखे हुए राजकुमार आदि का छुड़ाना, और शत्रु के साथ कपट-मूलक उपाय काम में लाना—ये सब दूत के कार्य हैं।

अन्यान्य बातों में आचार्य ने बतलाया है कि राजदूत कैसा होना चाहिए, वह किस प्रकार पर-राज्य में जाय, वहाँ क्या-क्या कार्य करे, उसे अपने राज्य के गुप्तचरों आदि की सहायता से शत्रु राज्य की किन-किन बातों की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए, वहाँ के राजा की प्रसन्नता या अप्रसन्नता का अनुमान किस प्रकार करना चाहिए, वहाँ उस का व्यवहार और वार्तालाप किस ढंग का हो, वह अपने राज्य की कौन-सी बातों को प्रगट करे, और किन्हें गुप्त रखे। विस्तार-भय से हम आचार्य के इन विषयों सम्बन्धी ब्यौरेवार विचार उद्धृत करने में असमर्थ हैं।

चौदहवाँ अध्याय

—:००:—

राजस्व

(१) सरकारी आय

—:०:—

प्रत्येक राज्य में शासन सम्बन्धी विविध कार्य होते हैं। इन कार्यों को करने के लिए धन की आवश्यकता होती है। इस अध्याय में हम इस बात का विचार करेंगे कि आचार्य कौटल्य के राजधन या राजस्व के विषय में क्या विचार हैं, वह कर आदि प्राप्त करने में जनता के हित का कहाँ तक ध्यान रखने का आदेश करता है।

राजकीय आय (एवं व्यय) का खासा भाग नकदी में होता था। अतः अन्य बातों का विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि उस समय यहाँ मुद्रा अर्थात् सिक्के की क्या व्यवस्था थी। अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर 'पण' नामक सिक्के का उल्लेख हुआ है। यह पण क्या है ?

पण—पण उस समय राज्य का प्रामाणिक सिक्का था। यह विशेषतया चाँदी का होता था। इसका वजन सोलह माशे होता था। इस में चार माशे ताम्बा, एक माशा लोहा, सीसा, रांग या सुरमा आदि मिलावट और शेष ग्यारह माशे चाँदी होती थी। पण से छोटे सिक्के अर्द्ध पण, चतुर्थांश पण, और अष्ट भाग पण होते थे, जिस प्रकार आजकल रुपये के भाग अठन्नी, चवन्नी, दुवन्नी होते है। चौथायी पण के सिक्के के मूल्य का एक ताम्बे का सिक्का भी होता था, जिसे माषक कहा जाता था। उस समय

आदमी अपनी धातु ले जाकर राजकीय टकसाल में सिक्के ढलवा सकते थे, एवं निर्धारित नियमों का पालन करते हुए, स्वयं भी ढाल सकते थे। श्री० तामस्कर जी का मत है कि पण आज-कल के रुपये का चतुर्थ-पंचमांश होता था। उसके मूल्य का विचार करते हुए स्मरण रखना चाहिए कि उस समय चीजें आज-कल की अपेक्षा कई गुनी सस्ती थीं।

आय-व्यय का लेखा—हिसाब-किताब अर्थात् आय-व्यय का लेखा रखनेवाले छोटे-बड़े कर्मचारी 'अर्थशास्त्र' में 'गाणनिक' कहे गये हैं। इन पर विविध रजिस्टरों और आंकड़ी आदि के रखने का उत्तरदायित्व होता था। ये अपने-अपने विभाग के अध्यक्ष के अधीन होते थे। कौटल्य लिखता है कि "छोटे छोटे सब कार्यालयों के अध्यक्ष अपना हिसाब दिखाने के लिए प्रति वर्ष अषाढ के महीने में 'अक्षपटल' अर्थात् आय-व्यय के प्रधान कार्यालय में आवें।"[1] वहाँ समाहर्ता अपने गाणनिकों की सहायता से अध्यक्षों का हिसाब-किताब समझता था। जब समाहर्ता के पास वास्तविक आय व्यय के दैनिक, पंचाह्निक (पाँच दिन के), पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक (और वार्षिक) अंक पहुँच जाते थे, और इनकी जाँच हो चुकती थी, तब आय-व्यय का पूर्ण लेखा तैयार होता था।

अक्षपटल में किस-किस प्रकार के रजिस्टरों का संग्रह होना चाहिए इस विषय में कौटल्य ने विस्तारपूर्वक लिखा है। उसका कथन है कि इस कार्यालय में छोटे-बड़े लेखकों (क्लर्कों) के लिए पृथक्-पृथक् स्थान होने चाहिएँ, और आय-व्यय के रजिस्टरों में क्रमानुसार रखने का प्रबन्ध होना चाहिए। रजिस्टरों में निम्नलिखित विषयों का उल्लेख होना चाहिए[2]—

---

[1] कौ० अ० २।७; इसी अध्याय में कहा गया है कि राजकीय वर्ष आषाढ मास की पूर्णिमा तक समझा जाय। [2] कौ० अ० २।७

(१) द्रव्यों के उत्पत्ति-स्थानों की नाम-निर्देशपूर्वक संख्या, जनपद, तथा वहाँ की हर तरह की उपज।

(२) खानों तथा कारखानों के आय-व्यय के सम्बन्ध में वृद्धि, क्षय, व्यय, प्रयाम (तैयार हुआ अन्न आदि), व्याजी (व्यापारियों से तुलामान आदि ठीक न होने पर, फिर न्यून न हो, इसलिये पाँच प्रतिसैकड़ा अधिक लिया हुआ द्रव्य), योग (जोड़), स्थान, वेतन, विष्टि (मजदूरी)।

(३) रत्न, सार (बहुमूल्य वस्तु), फल्गु (अल्प-मूल्य वस्तु), कुप्य पदार्थों के मूल्य, गुण, तोल, लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई तथा असली मूलधन।

(४) देश, ग्राम, जाति, कुल तथा सभा सोसाइटियों के धर्म व्यवहार, चरित्र, तथा विशेष परिस्थिति।

(५) राजोपजीवी पुरुषों के वेतन, भत्ता, भेंट, उपहार, परिहार (कर आदि का न लेना अर्थात् माफी) निवास-स्थान आदि।

(६) राजा, महारानी तथा राजपुत्रों के रत्न और भूमि आदि की साधारण तथा विशेष प्राप्ति।

(७) राष्ट्रीय आपत्तियों को निवारण करने के लिए व्यय किये जानेवाला धन,

(८) मित्र तथा शत्रुओं के सन्धि-विग्रह, तथा उनको दिये जानेवाला अथवा उनसे लिया जानेवाला धन।

(९) सब अधिकरणों (उत्पत्ति-स्थानों या कार्य-स्थानों) में आयव्यय सम्बन्धी किये जाने योग्य विविध कार्य, उपस्थान (कार्यकर्ताओं की उपस्थिति), प्रचार, चरित्र (नियम), आदि।

राज्य की आय—राज्य की अधिकांश आय जिन्स में ली जाती थी। सरकार को मिलनेवाला (तथा सरकार द्वारा उत्पन्न कराया हुआ) अन्न सरकारी कोठों में भरा रहता था; पशुओंके लिए सरकारी पशु-शालाएँ थीं; इसी प्रकार रत्न आदि के लिए

व्यवस्था थी। कौटल्य बतलाता है कि 'आय निम्नलिखिति प्रकार की होती है:—वर्त्तमान, पर्युषित, और अन्यजात। जो आय प्रतिदिन हो, अर्थात् दैनिक आय, वर्त्तमान आय कहलाती है। पिछले वर्ष का जो धन उस वर्ष वसूल न होकर इस वर्ष वसूल हो, अथवा जो धन पहले अध्यक्ष की गड़बड़ी से मालूम न हुआ और अब नये अध्यक्ष ने मालूम किया हो, अथवा शत्रु के देश से आया हुआ धन, पर्युषित आय कहलाता है। याद आया हुआ वह धन जो पहले विस्मरण हो गया हो, अपराधी पुरुषों से लिया हुआ जुर्माना, 'पार्श्व' अर्थात् विशेष आवश्यकता होने पर लिया हुआ धन, 'पारिहारणिक' अर्थात् चौपायों से घास आदि नष्ट किये जाने पर उसके दंडरूप में लिया हुआ धन, 'औपायनिक' अर्थात् भेंट के रूप में प्राप्त हुआ धन, शत्रु-सेना का अपहरण किया हुआ धन, और जिस धन का कोई दायभागी न हो, 'अन्यजात' आय के नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रसंग की अन्यान्य बातों में कौटल्य यह भी लिखता है कि सेना, चिकित्सा-कार्य, तथा दुर्ग आदि के लिए व्यय किये जानेवाले धन में से बचा हुआ धन 'व्यय प्रत्याय' कहा जाता है। यह भी एक प्रकार की आय है।[1]

कौटल्य ने आयके मुख्य वर्ग सात बताये हैं:—दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज तथा वाणिकपथ। इनका नामकरण प्राय: इनके प्राप्तिस्थान या साधन के अनुसार है। इनका व्यौरेवार परिचय आगे दिया जाता है।

दुर्ग—आय के दुर्ग नामक वर्ग में निम्नलिखित मार्ग और विभाग सम्मिलित हैं:—शुल्क, दंड, यौतव, नागरिक, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुरा, सूना, सूत्र, तैल, घृत, क्षार, सौवर्णिक, पुण्य संस्था, वेश्या, द्यूत, वास्तुक, कारुशिल्पिगण, देवताध्यक्ष,

[1] कौ० अ० २।६

द्वार और बाहिरिकादेय। इनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें इस प्रकार हैं:—

(१) शुल्क। आचार्य लिखता है कि शुल्क तीन प्रकार का होता है—बाह्य, आभ्यन्तर और आतिथ्य।[१] यह तीनों प्रकार का ही शुल्क निष्काम्य और प्रवेश्य दो-दो भागों में विभक्त होता है (बाहर जानेवाले माल की चुंगी को निष्काम्य और देश के भीतर आनेवाले माल की चुंगी को प्रवेश्य कहा जाता है)। शुल्क, पदार्थ के भाग के रूप में, अर्थात् जिन्स में लिया जानेवाला कर था, परन्तु कौटल्य ने ऐसी भी व्यवस्था की है कि वह नकदी के रूप में भी लिया जा सके। उसने बहुत बड़ी सूची देकर यह बताया है कि किस वस्तु पर कितना शुल्क लिया जाय। उदाहरणवत् भीतर आनेवाले माल पर सामान्यत: उन वस्तुओं के मुल्य का ५ प्रतिशत लिया जाय, रेशमी और ऊनी वस्त्र, धातु, चन्दन और कुछ मसालों पर दस या पन्द्रह फी सदी; चौपाये, दुपाये, सूत, कपास, औषधि, सुगन्धित द्रव्य, धान्य, पक्वान्न (मिठाई) आदि पर बीस या पच्चीस प्रतिशत, हीरा, मणि, मुक्ता, प्रवाल आदि रत्नों या इनके आभूषणों पर छ: प्रतिशत लिया जाय। आचार्य का आदेश है कि इसे इस प्रकार निर्धारित किया जाय जिससे स्वदेश का हित हो। उसने कुछ पदार्थों को शुल्क से मुक्त ठहराया है, जैसे विवाह-शादी में काम आनेवाले पदार्थ, दहेज में मिले हुए और भेंट में दिये जानेवाले या भेंट में मिले हुए पदार्थ, यज्ञ, देवमन्दिर,

---

[१]कौ० अ० २।२२; अपने देश में उत्पन्न हुई वस्तु पर जो चुंगी ली जाय, वह 'बाह्य' कहाती है, दुर्ग तथा राजधानी के भीतर उत्पन्न हुई वस्तुओं के शुल्क को 'आभ्यन्तर' कहते हैं, तथा विदेशों से आनेवाले माल की चुंगी को 'आतिथ्य' कहा जाता है।

—उदयवीर शास्त्री

उपनयन, व्रत, दीक्षा' समावर्तन संस्कार आदि के लिये लाये हुए पदार्थ। आचार्य का यह मत है कि किसी वस्तु के व्यापार को उत्तेजना देने के लिये भी शुल्क मुक्त या कम किया जाए।

कौटल्य ने इस बात की सविस्तारयोजना की है कि शुल्काधिकारी माल के मूल्य का ठीक अनुमान करके शुल्क ले। इसकी गुप्तचरों द्वारा जाँच करायी जाय, तथा शुल्क सम्बन्धी अपराध करनेवाले व्यपारियों को समुचित दण्ड दिया जाय।

(२) दण्ड। कौटल्य के दण्ड सम्बन्धी विचार पहले दिये जा चुके हैं। साधारण पाठक को यह कल्पना हो सकती है कि उसके नियमों के अनुसार शायद ही कोई आदमी दंड से बचता होगा, तथा राज्य को दंड से बहुत भारी आय होती होगी। परन्तु वस्तु-स्थिति इसके विपरीत थी, प्रजा अपराधों से बचती थी, और इस मद्द की आमदनी साधारण ही थी; विदेशी साक्षी इसी प्रकार की है।

दंड के निम्नलिखित भाग किये जा सकते हैं:—सरकारी अधिकारियों को उनके उस अपराध के कारण दंड, जो वे राजसत्ता के बल पर करते थे; फौजदारी अपराधों के लिये दंड; कैदियों से दंड के बदले में किये जानेवाले काम का लाभ; अन्य अपारध सम्बन्धी दंड।

दंड का परिमाण निर्धारित करने में उसने अपराध की गुरुता के अतिरिक्त अपराधीकी आयु, हैसियत, मानसिक स्थिति, जाति और संस्कृति आदि का यथेष्ट विचार किया है।[1]

(३) यौतव।[2] यह बटखरों आदि की व्यवस्था से होने वाली आय थी। कौटल्य ने ऐसी योजना की थी कि लोगों को बटखरे,

---

[1]कौ० अ० २।२०

[2]यह शब्द अर्थशास्त्र में भूल से 'पौतव' छप गया है; शुद्ध शब्द 'यौतव' होना चाहिए।

तराजू, माप आदि राज्य की ओर से मूल्य लेकर दिये जायँ। दुकानदारों या व्यापारियों से एक काकणी प्रतिदिन लेकर, हर चौथे महीने उनकी तराजू तथा बाटों का परिशोधन किया जाता था। जो लोग पुराने या खराब बटखरों से काम लेते थे, उन्हें दंड दिया जाता था।[1]

(४) नागरिक। अर्थात् नगर के मुख्याधिकारी द्वारा होने वाली आय। इस मद की आय कोई स्वतंत्र आय नहीं हैं, इसमें विविध मद की आय सम्मिलित हो जाती है। नागरिक अपने क्षेत्र में एक पूर्ण अधिकार-प्राप्त कर्मचारी होता था। उसके द्वारा प्राप्त कई मदों की आय नगर-कोष में गिनी जाती और नगर-प्रबन्ध के कार्य में व्यय होती थी। उदाहरणावत् किसी संदिग्ध व्यक्ति को आश्रय देने, नगर की सफाई या स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम भंग करने, जुआ खेलने या फौजदारी के अपराधों का दण्ड।[2]

(५) लक्षणाध्यक्ष द्वारा होने वाली आय। लक्षणाध्यक्ष टकसाल का अधिकारी था। उस समय आदमी अपनी धातु ले जाकर राजकीय टकसाल में सिक्के ढलवा सकते थे, एवं यदि वे चाहते तो अन्य कारखानों में भी ढलवा सकते थे। इन्हें निर्धारित शुल्क देना पड़ता था, और सरकारी नियम पालन करने होते थे। आचार्य ने लिखा है कि रूपदर्शक (सिक्कों की परीक्षा करनेवाला अधिकारी) इस बात की व्यवस्था कर देवे कि कौन सा सिक्का चलने योग्य है, और कौन-सा कोष में जमा करने योग्य। सौ पण पर जो आठ पण राज्यभाग जनता से लिया जाता है, उसका नाम 'रूपिक, है। सौ पण पर पाँच पण राज्यभाग व्याजी कहाता

[1] कौ० अ० २।१६ [2] कौ० अ० २।३६

है। सौ पण पर अष्टमांश भाग पण 'पारिक्षिक कहा जाता है।'[1]

(६) मुद्रा। मुद्रा का अर्थ है, राजकीय चिह्न या मोहर। प्रत्येक यात्री से जो नगर में आता था, अथवा वहाँ से बाहर जाता था, उसे मुद्रा (पासपोर्ट) प्राप्त करना होता था। इसके लिये उसमें एक 'माषक' कर लिया जाता था। (यह इस वास्ते होता था कि आने-जाने वाले व्यक्ति पर चोर, या शत्रु का चर (जासूस) आदि होने की शंका न की जाय। जो व्यक्ति—वह अपने ही जनपद में रहनेवाला हो या किसी अन्य प्रदेश में—यात्रा के समय मुद्रा नहीं लेता था, अथवा बनावटी मुद्रा लेकर जाता था, उसे विविध दंड दिया जाता था।[2]

(७) सुरा। शराब की दुकानें सरकारी होती थीं, या सरकार के एजन्टों या ठेकेदारों की होती थी। शराब पर सरकार शुल्क भी लेती थी। यदि सरकारी एजन्टों से भिन्न, अथवा सरकारी दुकानों से अन्यत्र कोई व्यक्ति शराब बनाता या बेचता तो उसे ६०० पण 'अत्यय' दण्ड देना पड़ता था। यह सब आय इस मद के अन्तर्गत थी।[3]

(८) सूना इस मद की आय का बहुत थोड़ा भाग मांस की बिक्री के शुल्क से प्राप्त होता था। अधिकतर आय अवध्य माने जाने वाले पशु-पक्षियों के, या निषिद्ध स्थानो में, शिकार करने के

---

[1]कौ० अ० २।१२; श्री० उदयवीर जी ने यहाँ तो लक्षणाध्यक्ष को टकसाल का अधिकारी ही माना है। परन्तु दूसरे अधिकरण के छठे अध्याय में लक्षणाध्यक्ष का अर्थ उन्होंने खेत तथा बगीचे आदि की सीमा नापकर निश्चित करने वाला अधिकारी पुरुष =पटवारी, कानून-गो आदि, किया है, यह ठीक नही है।

[2]कौ० अ० २।३४ [3]कौ० अ० २।२५

की आय बहुत अधिक नहीं होती थी. इस विभाग का मुख्य लक्ष्य जनता को सुविधा पहुँचाना तथा उसकी हानि को रोकना था।[1]

(१४) पण्य संस्था। कोष्ठागाराध्यक्ष, खन्यध्यक्ष आदि कई अधिकारी जिस माल को बेचने के लिए बनवाते थे, अथवा उनके पास माल बिकने योग्य होता था, वह सब माल पण्याध्यक्ष द्वारा पण्य संस्था अर्थात् राजकीय दुकानों में ही बेचा जाता था। इससे जो आय होती थी, वह इस मद मे गिनी जाती थी।[2]

इस प्रसंग में आचार्य का यह आदेश कितना महत्त्वपूर्ण और अनुकरणीय है— अपने देश तथा पर देश में उत्पन्न हुए दोनों प्रकार के पण्यों का विक्रय आदि राजा को इस प्रकार कराना चाहिए, जिससे प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे। यदि किसी कार्य में बहुत अधिक भी लाभ होता है, परन्तु उस कार्य के करने से प्रजा को कष्ट पहुँचता है तो राजा उस कार्य को तत्क्षण रोक दे।

(१५) वेश्याओं से होनेवाली आय। आय की इस मद का उल्लेख अर्थशास्त्र में केवल एक ही स्थान पर मिलता है।[3] अन्य स्थानों में रूपाजीवा (अपने रूप के कारण जीविका प्राप्त करनेवाली स्त्रियाँ), पुंश्चली (व्यभिचार द्वारा जीविका प्राप्त करनेवाली स्त्रियाँ); शब्दों का प्रयोग हुआ है। रूपाजीवा, पुंश्चली और वेश्या (अपने वेष या शृंगार आदि द्वारा जीविका प्राप्त करनेवाली स्त्रियाँ) शब्द व्यवहार में बहुत-कुछ समानार्थवाची माने जाते हैं।[4] सम्भव है, ऐसी स्त्रियाँ केवल गाने-बजाने आदि के ही कार्य करती हों, अथवा राज-दरबार, बड़े-बड़े सरदारों और रईसों के साथ उनके मनोविनोद के लिए रहती हों। सूत्राध्यक्ष के प्रकरण

---

[1] कौ० अ० २।१ [2] कौ० अ० २।१४

[3] कौ० अ० २।१६ और ४।९ [4] कौ० अ० २।२७

श्री० उदयवीर जी शास्त्री ने 'रूपाजीवा' और 'पुंश्चली' का अर्थ वेश्या ही किया है।

में, कौटल्य लिखता है कि वृद्ध रूपाजीवा से सूत्राध्यक्ष ऊन, कपास आदि का सूत कतवावे। अन्यत्र उसका कथन है कि पुंश्चली से खुफिया पुलिस का काम लिया जाय। मालूम होता है, इस मद से राज्य को विशेष आय नहीं होती थी।

(१६) द्यूत। कौटल्य ने जुए के नियंत्रण के सम्बन्ध में यथेष्ट विचार किया है। इस मद की आय का परिचय उसके निम्नलिखित कथन से होता है; 'जुए में जीतनेवाले से, द्यूताध्यक्ष पाँच प्रति सैकड़ा लेवे, तथा कौड़ी, पासे, अराल[1] शलाका, जल, जमीन का किराया और सरकारी टैक्स भी वसूल करे। आचार्य ने जुए सम्बन्धी नियमों को भंग करने का दंड ब्यौरेवार बतलाया है।[2]

(१७) वास्तुक। वास्तुक से अभिप्राय उस आय का है, जिसका सम्बन्ध घर, खेत, बाग, सेतुबन्ध और तालाब आदि से हो। इस मद की मुख्य आय उस शुल्क से होती थी जो इन चीजों की बिक्री के समय लिया जाता था।[3]

(१८) कारुशिल्पिगण अर्थात् बढ़ई, लुहार, सुनार, और पच्चीकारी आदि का बारीक काम करनेवालों से होनेवाली आय। इन कामों के, अर्थशास्त्र से, बड़ी मात्रा में होने का परिचय मिलता है, अतः इस मद से राज्य को खूब आय होती रही होगी।

(१९) देवालयों से होनेवाली आय। मौर्यकाल में यहाँ राजकीय देवालयों की संख्या काफी बड़ी थी। अर्थशास्त्र से मालूम

[1] चमड़े की बनायी हुई चौकड़ी, जिस पर पासे आदि डालकर खेला जाता है। —उदयवीर शास्त्री

[2] कौ० अ० ३।२०

[3] कौ० अ० ३।८ और ३।९; श्री० तामस्कर जी ने वास्तुक का अर्थ मकानों के लिये नजूल जमीन किया है।

होता है कि जैसा प्राय: होता है, उस समय भी इन्हें खूब आमदनी होती थी, तथा अधिकांश में पाखंडी और धूर्त व्यक्तियों का आधिपत्य था। कौटल्य इन्हें राज्य की आय का साधन बनाने से कब चूकनेवाला था। उसने लिखा है कि 'किसी पाखंडी या समूह की सम्पत्ति को, किसी मन्दिर की उस सम्पत्ति को जिसमें से श्रोत्रियों को न मिलता हो, "यह उन मनुष्यों की है जो मर गये हैं, अथवा जिनके घर जल गये हैं," ऐसा कहकर राजा के आदमी जब्त कर लें। देवताध्यक्ष दुर्ग और राष्ट्र के देवताओं (देव मंदिरों) के आय- धन को यथोचित रूप से एक स्थान पर रखें और फिर राजकोष में जमा कर दिया करें।'[1]

(२०) द्वार। यह किसी पदार्थ पर उसके नियत शुल्क का पंचमांश होता था। कौटल्य ने 'शुल्क व्यवहार' के प्रकरण में बतलाया है कि यह कर इस प्रकार नियत किया जाय जिससे अपने देश का सदा उपकार होता रहे। जिन प्रदेशों में जो वस्तु उत्पन्न होती हो, उन्हीं प्रदेशों में उनका विक्रय नहीं किया जा सकता। खानों से धातु (कच्चा माल) खरीद-फरोख्त करने पर छ: सौ पण दंड होगा।[2]

श्री० उदयवीर जी ने इसे नगर के प्रधान द्वार के प्रवेश का टेक्स लिखा है, और कहा है, कि इसे द्वाराध्यक्ष, वसूल करे। परन्तु इससे तो यह 'शुल्क' के अन्तर्गत आ जाता है, फिर इसे दुबारा क्यों लिया जाय! हमें इस सम्बन्ध में श्री० तामस्कर जी का यह कथन अधिक जँचता है कि 'यह कर आजकल की एकसाइज ड्यूटी (उतपत्ति कर) जैसा था। कई चीजें ऐसी होती हैं, जो बनने या पैदा होने के स्थान पर भी बिक सकती है। राजनैतिक चीजों पर शुल्क पाने से वंचित न होने पावे, इसलिए

---

[1] कौ० अ० ५।२ [2] कौ० अ० २२।२

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि जो चीज जहाँ बने या पैदा हों, वहीं न बेचा जायँ। इन पर शुल्क लेने का तरीका यह रहा होगा कि पैदा होने या बनने के स्थान के बाहर आते ही उन स्थानों के द्वार पर शुल्क ले लिया जाता रहा हो। इसीलिए यह बतलाना पड़ा है कि अमुक चीज उसके पैदा होने के स्थान पर लेने से इतना दंड होगा।'[1]

(२१) बाहिरिकादेय। बाहिरिक अर्थात् नट, नर्तक, धूर्त तथा जुआरी आदि से लिया जानेवाला विशेष कर। कौटल्य ने कहा है कि इन लोगों को राजा किसी तरह भी नगर में न बसने देवे, क्योंकि ये लोग जनपद निवासी पुरुषों के अपने काम दिखाकर कुमार्ग में प्रवृत्त करनेवाले होते हैं। यदि राजा इनको बसाना ही चाहे तो जनपद के सीमा प्रान्त में बसावे, और वहाँ पर रहने-वाले अन्य परिवारों की तरह इनसे भी राजकर वसूल किया जाय।[2]

राष्ट्र—अब अर्थशास्त्र में बतलाये हुए आय के सात वर्गों में से दूसरे वर्ग 'राष्ट्र' का विचार करते हैं। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित मदों की गणना हुई है:—सीता, भाग, बलि, कर, वणिक्, नदीपाल, तर, नौ, पट्टन, विवीत, वर्तनी, रज्जू, चोर-रज्जू।[3] आगे इन मदों में से एक-एक के विषय में आवश्यक

---

[1] कौटलीय अर्थशास्त्र-मीमांसा (प्रथम खंड)।

[2] कौ० अ० २।४; श्री तामस्कर जी ने 'बाहिरिक' का अर्थ विदेशीय लोग किया है।

[3] कौ० अ० २।६ : के 'काष्ठागाराध्यक्ष' नामक तेतीसवें प्रकरण में पिंडकर (गावों को दिया जानेवाला नियत राजकीय कर) षड् भाग (धान्य आदि का छठा भाग) सेनाभक्त (सेना के आक्रमण करने के समय में घी तेल चावल नमक आदि का विशेष राजदेय भाग) बलि (उपहार, कर (फल तथा वृक्षादि सम्बन्धी आय) उत्संग (राजा के पुत्र-जन्मादि उत्सव होने पर पौर जानपदों द्वारा प्राप्त धन), पार्श्व (राज्य को

विचार करते हैं।

(१) सीता। कुछ भूमि ऐसी होती थी, जिस पर राज्य का स्वामित्व होता था। उस पर खेती कराने के लिए एक विशेष अधिकारी 'सीताध्यक्ष' होता था, जो उस की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहता था। ऐसी भूमि से होनेवाली आय इस 'सीता' मद में गिनी जाती थी।[1]

(२) भाग। यह अत्यन्त प्राचीन कर था; और कौटल्य के समय में भी राज्य की आय का एक मुख्य अंग बना हुआ था। सामान्यतः यह कृषिजन्य पदार्थों की उपज का छठा हिस्सा होता था। परन्तु सिंचाई की सुविधा के अनुसार यह पाँचवाँ, चौथा या तिहाई हिस्सा तक भी हो सकता था।[2] इस सम्बन्ध में कौटल्य लिखता है कि अपना ही धन लगा कर स्वयं परिश्रम करके बनाये हुए तालाब आदि से हाथ से खेत सींचने पर, किसानों को अपनी उपज का पाँचवाँ हिस्सा राजा को देना चाहिए। यदि तालाबों से या नदी, झील आदि से रहट या चरस आदि द्वारा (बैलों के) कंधों की सहायता से खेत सींचा जाय तो किसान अपनी उपज का चौथा हिस्सा राजा को देवे। यदि छोटी-छोटी नहर या नालियाँ बना कर उनके द्वारा खेत सींचा जाय तो उपज का तीसरा हिस्सा राजा को दिया जाना चाहिए। आचार्य ने इसमें यह ध्यान रखा है कि खेतों की सिंचाई में किसानों को

धन की विशेष आवश्यकता होने की दशा में प्राप्त धन), पारिहीणिक (चौपायों से बिगाड़े हुए धान्य आदि के दंड रूप में प्राप्त धन), औपायनिक (भेंट में प्राप्त धन) और कौष्ठेयक (राजा के द्वारा बनवाये हुए तालाब और बगीचों से प्राप्त होनेवाला धन) 'राष्ट्र' के अन्तर्गत बतलाया गया है। परन्तु वहाँ कर संग्रह सम्बन्धी प्रसंग न होने से, वह वर्गीकरण यहाँ विचारणीय नहीं है।

[1]कौ० अ० २।२४ [2]कौ० अ० २।२४

जितना परिश्रम अधिक करना पड़े उतना ही कम 'भाग' वे राज्य को देवें। राज्य की ओर से सिंचाई का प्रबन्ध होने की दशा में उसे चौथाई अथवा तिहाई से कुछ अधिक 'भाग' मिलता था। किन्तु जहाँ के काश्तकार ऐसी जमीन जोतते, जो मध्यम या कम-जोर, या किले या पक्के मकान, व्यापारी मार्ग, खान, जंगल या राज्य की सीमा पर हो उनसे राजकर नहीं लिया जाता था। कौटल्य ने अन्य बहुत से पदार्थों पर भी भिन्न-भिन्न परिमाण में 'भाग' लिये जाने का उल्लेख किया है, परन्तु वह उल्लेख अर्थशास्त्र के 'कोष का अधिक संग्रह' शीर्षक प्रकरण में होने से यह प्रतीत होता है कि राज्य उस प्रकार की आय विशेष अवस्था में, अर्थ संकट उपस्थित होने पर, प्राप्त करता था। इसका विचार अन्यत्र किया जायगा।

(३) बलि। कौटल्य ने न तो इस कर का कुछ ब्यौरा ही दिया है, और न इसे वसूल करने की विधि के विषय में ही कुछ लिखा है। सम्भवतः यह कुछ महत्त्व का, या राज्य को विशेष आय देने वाला न होगा। श्री० सत्यकेतु जी विद्यालंकार ने इस कर से 'धार्मिक प्रयोजनों के लिए लिए जानेवाले विशेष कर' का आशय लिया है। परन्तु इस से राज्य की वह आय भी समझी जा सकती है, जो बड़े बड़े आदमियों से उपहार-स्वरूप प्राप्त हो।

(४) कर। यह शब्द उस समय आज-कल की तरह कर-समूह का द्योतक नहीं था, वरन् इस से एक विशेष प्रकार की आय समझी जाती थी। श्री० उदयवीर जी शास्त्री ने इसका अर्थ 'फल तथा वृक्ष आदि के सम्बन्ध में राजदेय धन' किया है। परन्तु श्री० जगमोहनजी वर्म्मा इसके सम्बन्ध में लिखते हैं कि "यह वह आय थी, जो राजा के निज अधिकृत देशों से मिलती थी। जहाँ राजा को 'कर' मिलता था, उसी भूमि को वह अन्य को दान में दे सकता था। इसलिये श्रोत्रिय आदि राजकर्मचारियों को दंड और कर

रहित भूमि देने का विधान किया गया है। ये 'अकरद' कहलाते थे, और अपना काम करते हुए अपने 'भोग' को वहाँ से, जो उस स्थान की परिस्थिति के अनुसार होता था, लेते थे।"[1] श्री० पी० बेनर्जी एम० ए० ने 'कर' का अर्थ 'अधीन राज्यों से मिलनेवाली भेंट या खिराज (Tribute)' किया है।[2]

(५-९) वणिक, नदीपाल, तर, नौ, पट्टन। बणिक् के विषय में लिखना, श्री० उदयवीर जी भूल गये। श्री० तामस्कर जी ने उसे व्यापारियों से होनेवाली आय कहा है। नदीपालस्तर के स्थान पर श्री० उदयवीर जी ने केवल तर का अर्थ किया है, उसे नदी-आदि पार होने का टैक्स लिखा है। श्री० तामस्करजी ने तर को घाट-उतराई बताते हुए कहा है कि नदीपाल का अर्थ उतना स्पष्ट नहीं है। नदी से कई तरह की वस्तुएँ मिल सकती हैं। उनकी प्राप्ति का अथवा उनपर लिये जानेवाले करों का ही समावेश नदीपाल के भीतर हो सकता है। 'नौ' नामक मद में नौका आदि का कर समझना चाहिये। 'पट्टन' को श्री० उदयवीर जी ने कस्बों से लभ्य धन कहा है, जबकि इस सम्बन्ध में श्री० तामस्कर जी ने लिखा है कि 'ऐसा जान पड़ता है कि बोटों को बिश्राम लेने के लिये बड़े-बड़े शहरों के पास आजकल के 'डॉक' जैसे किसी प्रकार के घाट बनाये जाते थे। वहाँ पर ठहरने मे उन बोटों को कर देना होता था। यही 'पट्टन' हो सकता है।

(१०) विवीत। यह वह कर है जो सरकारी चरागाहों का उपयोग करनेवाले पशुओं के मालिकों से लिया जाता था। आचार्य लिखता है कि पशुओं के घूमने और चरने बैठने के लिये जंगलों में चरागाह बनवाये जायँ। चरागाह में चरकर यदि ऊँट और भैंस आदि बड़े-बड़े पशु अपने घर चले जाते हैं (अर्थात् वे

---

[1] 'माधुरी' वर्ष २, खंड १, संख्या ४।

[2] Public Administration in Ancient India,

चरागाह में नहीं बैठते) तो उनके मालिकों से प्रति पशु के चरने के बदले में १/४ पण के हिसाब से कर लिया जाय। इसी प्रकार गाय, घोड़े गधे, आदि जो मध्यम श्रेणी के पशु हैं, उनको चराने के लिये १/८ पण कर लिया जाय ; छोटे पशु भेड बकरी आदि के लिये १/१६ पण लिया जाय।

जो जानवर चर कर बैठते भी वहीं हैं, उनके लिये पहिले के मे दुगना कर लिया जाय ; और, जो बराबर रहते भी वहीं पर हैं, उनके लिये चौगुना। परन्तु आचार्य ने यह स्पष्ट अदेश कर दिया है कि ग्राम-देवता के नाम से छूटे हुए सांडों, दस दिन तक की व्याई हुई गाय तथा गौओं में रहनेवाले बिजारों का कोई कर न लिया जाय[1]

(११) वर्तनी। यह कर मार्ग में रक्षा करने के लिए, बिक्री का माल ढोनेवालों से लिया जाता था। कौटल्य ने इसकी दर इस प्रकार निर्धारित की है:—अन्तपाल बिक्री का माल ढोनेवाली गाड़ी आदि से सवा पण वर्तनी (मार्ग-रक्षा-कर) लेवे। घोड़े खच्चर गधे आदि एक खुरवाले पशुओं की एक पण वर्तनी लेवे: तथा इन के अतिरिक्त बैल आदि पशुओं की आधा पण; बकरी, भेड़ आदि क्षुद्र पशुओं की चौथाई पण; और कंधे पर माल ढोनेवालों की एक माष (तांबे का एक सिक्का) वर्तनी लेवे।[2]

इस कर लेने से, कौटल्य राज्य पर कितनी जिम्मेदारी ठहराता है, यह बहुत ध्यान में लाने की बात है। वह लिखता है कि यदि किसी व्यापारी की कोई चीज नष्ट होजावे या चोरों के द्वारा चुरा ली जाय तो अन्तपाल ही उसका प्रबन्ध करे। खोई हुई चीज को ढूँढकर, तथा चुराई हुई चीज को, चोरों को पकड़कर, वापिस लाकर देवे, अन्यथा अपने पास से देवे।[3]

---

[1] कौ० अ० ३।१०

[2] कौ० अ० २।२१ [3] कौ० अ० २।२१

(१२-१३) रज्जू और चोररज्जू—इनका अर्थ श्री० उदयवीर जी ने क्रमशः भूमि-निरीक्षक पुरुषों द्वारा प्राप्तव्य धन, और चोरों को पकड़ने के लिए गाँव से प्राप्त हुआ धन किया है।

खनि—सोना, चांदी, हीरा, मणि, मुक्ता, प्रवाल, शंख, लोहा, लवण, कंकर (भूमि-प्रस्तर) और पारे आदि धातुओं की खान की आय को 'खनि' कहते हैं।[3] अर्थशास्त्र के 'खान के कार्यों का संचालन' शीर्षक तीसवें प्रकरण में बताया गया है कि 'आकराध्यक्ष मूल्य, विभाग, व्याजी, परिघ, अत्यय, शुल्क, वैधरण, दंड, रूप और रूपिक तथा खानों से निकाले हुए बारह प्रकार के धातु और भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्य विक्रेय पदार्थों का संग्रह करे।' इस वाक्य में आये हुए शब्दों का स्पष्टीकरण आगे किया जाता है।

(१) मूल्य। खन्यध्यक्ष लोहाध्यक्ष और लवणाध्यक्ष आदि विविध खनिज पदार्थों की उत्पत्ति तथा उनके विक्रय का प्रबन्ध करते थे। राज्य कुछ खानों का ठेका भी देता था, इससे भी उसे आय होती थी। वह सब आय 'मूल्य' है।

(२) विभाग। श्री० उदयवीर जी ने इसे तोल का टेक्स कहा है। कोटल्य ने लिखा है कि परदेश से आये हुए नमक पर उसका बेचनेवाला पुरुष उसके मूल्य का छठाँ भाग राजा को कर के तौर पर देवे। भाग (छठाँ भाग) और विभाग देने पर वह अपने माल को बेच सकता है।

(३) व्याजी। वस्तुओं के ठीक तोल, माप या गिनती से कुछ अधिक लिया हुआ हिस्सा, जिससे फिर तोलने आदि में किसी प्रकार की कमी की आशङ्का न हो, व्याजी कहा गया है।[1] व्यापारियों से कितना-कितना राजकीय अंश लेना चाहिए, इसका निरू-

---

[1]को० अ० २.१५ और २.१६; श्री सत्यकेतुजी विद्यालंकार ने इसका अर्थ व्यापारियों को, राजकीय माल बेचने के लिए, दिया आने वाला कमीशन किया है।

पण करते हुए कौटल्य लिखता है कि जितना द्रव्य मापा जाय उसका सोलहवाँ हिस्सा, जो द्रव्य तोला जाय उसका बीसवाँ हिस्सा, और जो द्रव्य गिने जायँ उनका ग्यारहवाँ हिस्सा राजा के लिए देना चाहिए। खनिज पदार्थों में इस कर का उल्लेख नमक के सम्बन्ध में हुआ है, और यह पाँच प्रतिशत निर्धारित किया गया है।[1] मुद्रा के सम्बन्ध में भी यही बात है।

(४) अत्यय। जिन खनिज वस्तुओं को उत्पन्न करने या बेचने का कार्य राज्य स्वयं करता था, या जिन के लिए ठेका या लाइसेंस दिया जाता था, उन्हें बिना अनुमति उत्पन्न करने या बेचनेवालों से दंड स्वरूप जुर्माना वसूल होता था, उसकी आय अत्यय कहलाती थी।[2]

(५) परिघ। यह धातुओं की परीक्षा करके शुद्ध-शुद्ध बताने का कर था। इसका परिमाण सौ पण की धातु पर अष्टमांश पण होता था।[3]

(६) शुल्क। 'दुर्ग' आय के प्रसंग में जो बातें शुल्क के सम्बन्ध में कही गयी हैं, वेही आकरज वस्तुओं के शुल्क के विषय

---

[1] खनिज पदार्थों के अतिरिक्त, यह कर गर्म किये हुए घी पर उसका बत्तीसवाँ हिस्सा, तेल पर चौसठवाँ हिस्सा (कौ० अ० २।१६) और मुद्रा पर पांच फी सैकड़ा (कौ० अ० २।१२) था।

[2] कौ० अ० २।१२

'अत्यय' का साधारण अर्थ श्री० उदयवीर जी ने धर्मस्थीया कंटक-शोधन आदि अधिकारियों के द्वारा अपराधियों पर किये गये जुरमाने का धन, किया है; कौ० अ० २।६

[3] कौ० अ० २।१२; श्री० उदयवीर जी ने अर्थशास्त्र के २।६।१० के अनुवाद में इसे 'आतुर द्रव्य, अर्थात् जिस द्रव्य का कोई वारिस न हो,' लिखा है। परन्तु उन्होंने ही २।१२।४७ के अनुवाद में इसे पारीक्षिक कहा है।

में समझनी चाहिएँ : आकरज शुल्क का लेखा आकराध्यक्ष के पास रहना था।

(७) 'वैधरण'। इस आय के सम्बन्ध में कौटल्य लिखता है कि अपनी भूमि में उत्पन्न हुए राजपण्य (बिक्री के योग्य राजद्रव्य) के विक्रय आदि व्यवहारों की स्थापना, राजा एक ही नियत स्थान से करवाये। (तात्पर्य यह है कि जो पण्य अपने ही देश में उत्पन्न हो, उसका किसी एक व्यक्ति को ठेका आदि दे देवे और उसी के द्वारा विक्रय करावे)। जो पण्य दूसरे देश में उत्पन्न हुआ हो, उसका अनेक स्थानों से विक्रय करावे।........बहुत स्थानों से अर्थात् बहुत से व्यक्तियों के द्वारा बेचे जानेवाले राज-पण्य को, व्यापारी लोग मूल्य निश्चय करके बेचें। यदि विक्रय होने पर मूल्य में कुछ कमी हो जाय तो उसके अनुसार ही व्यापारी लो उस सारी कमी को पूरा करें। इस पूर्ति करने का नाक वैधरण है।[1]

(८) दंड। 'दुर्ग' नामक आय के अन्तर्गत इसका उल्लेख हो चुका है। आकरज पदार्थों सम्बन्धी अपराधों के दंड की आय आकराध्यक्ष के पास रहती, और 'खनि' आय में गिनी जाती थी।

(९) रूप। आकरज पदार्थों में इस कर का उल्लेख केवल नमक के प्रसंग में मिलता है।[2]

(१०) रूपिक। यह टकसाल की आय थी। अपनी-अपनी धातु टकसाल में लेजा कर उसके सिक्के ढलवानेवालों से रूप-दर्शक या परखैया प्रति शतक आठ के हिसाब से यह कर लेना था। नमक पर भी यह कर लिया जाता था।

सेतु—फूल तथा फलों के बाग, केला। सुपारी आदि, अन्नों

[1]कौ० अ० २।१६

[2]कौ० अ० २।१२, श्री० उदयवीर जी शास्त्री ने इसे 'पारीक्षक=सौ का आठवाँ हिस्सा' लिखा है।

के खेत, मूलवाप (गन्ना, अदरख तथा हल्दी आदि जिसके पैदा करने के लिए बीज न लगाया जाकर, मूल के टुकड़े लगाये जाते हैं) वस्तुओं के उत्पत्ति-स्थानों से होनेवाली आय 'सेतु' कही गयी है। राज्य की ओर से खेती की उपज बढ़ाने के वास्ते सिंचाई के लिए कुएँ, बावड़ी और नहर आदि बनवायी जाती थीं। 'राष्ट्र' नामक आय के अन्तर्गत बताया गया है कि 'भाग' का परिणाम साधारणतया उपज का छठाँ हिस्सा होता था, परन्तु विशेष दशा में, सिंचाई की सुविधा के अनुसार पाँचवाँ, चौथा या तिहाई हिस्सा तक भी हो सकता था। इस अन्तर से सिंचाई से होनेवाली आय के परिमाण का अनुमान हो सकता है। इस आय को सीताध्यक्ष वसूल करता था।

वन—यह वन अर्थात् जंगल विभाग की आय है। इस विभाग का प्रधान अधिकारी आटविक कहलाता था। कौटल्य ने कई प्रकार के वनों का उल्लेख किया है, उदाहरणवत् तपोवन, राजकीय मृग वन, प्रजाकीय मृग वन, द्रव्य वन या कुप्य वन, अतिथि मृगया वन, ब्राह्मारण्य, सोमारण्य अभय वन, हस्ति वन आदि। वन विभाग से होनेवाली आय के चार भेद किये जा सकते हैं:—

(क) जंगली पशुओं से होनेवाली आय; हड्डी, चमड़ा, खुर, सींग, पूछ, दाँत, स्नायु, बाल, पकड़ कर रखे हुए जंगली पशु, तथा पशुओं से प्राप्त होनेवाली कस्तूरी आदि चीजों की विक्री की आय।

(ख) शिकार के लिए नियत किये हुए मृगया स्थलों के होनेवाली आय।

(ग) जंगलों से होनेवाली विविध प्रकार की उद्भिज उपज की आय।

(घ) हाथियों को पकड़कर बेचने, अथवा हाथी दाँत आदि की विक्री से होनेवाली आय। हाथियों का उस समय, विशेषतया

युद्धों में, बड़ा महत्त्व था। राज्य की ओर से हाथियों को पकड़ने, पालने, और शिक्षा देने का बड़ा भारी आयोजन रहता था। कौटल्य ने इस का ब्यौरेवार विवेचन किया है।

इनमें से प्रथम तीन प्रकार की आय कुप्याध्यक्ष वसूल करता थी, और अन्तिम प्रकार की, हस्तिवनाध्यक्ष। कुप्याध्यक्ष अपनी अधीनता में जंगलों से तरह-तरह के कच्चे पदार्थ संग्रह करता था, तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के कारखाने खोलकर युद्धोपयोगी तथा अन्य अनेक पदार्थ तैयार कराता था। कौटल्य ने कुप्य वर्ग का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[1] कुप्याध्यक्ष राज्य के लिए जंगल की उपज संग्रह करता और सन्निधाता के पास पहुँचाता था जो उसे पण्याध्यक्ष के पास भेजकर निर्धारित नियमों के अनुसार बिकवाता था। अर्थशास्त्र में जंगल या उससे मिलनेवाले पदार्थों को ठेके पर उठाने का उल्लेख नहीं मिलता। ज्ञात होता है कि प्रजा अपने उपयोग के लिए आवश्यक पदार्थ स्वयं भी संग्रह कर सकती थी ; हाँ व्यापार करने की दशा में राजा को 'भाग' और 'शुल्क' देना होता था।

व्रज—गाय, भैंस, बकरी, गधे घोड़े, और खच्चर की गणना 'व्रज' में की गयी है। सुअर, साँड, बैल भी 'व्रज' में ही समझे जाते थे। ये पशु इस आय के मुख्य साधन थे। इस आय को गोऽध्यक्ष वसूल करता था, और, इस का एक बड़ा भाग राष्ट्र के अन्तर्गत गिनी हुई 'भाग' नामक आय में आ जाता है। पशुओं की बिक्री पर प्रति पशु चौथाई पण का 'रूप' नामक कर लिया जाता था। मांस की बिक्री से भी आय होती थी। 'व्रज' सम्बन्धी जिन अपराधों के लिए जुरमाना होता था, उन में पशुओं से निर्दयता का व्यवहार करना या उन्हें लड़ाना भी सम्मिलित था। पशुओं की उन्नति करने, उनकी नस्ल बढ़ाने, चिकित्सा करने, घी

---

[1] कौ० अ०२।१७

दूध आदि बढ़ाने, हड्डी, चमड़े, बाल, ऊन आदि का अधिकतम उपयोग करने के लिए यह एक स्वतंत्र विभाग था।[1]

वणिक् पथ—इस नाम की आय के दो भेद हैं, जल-पथ आय और स्थल-पथ आय। जल-पथ आय नावाध्यक्ष के द्वारा प्राप्त होती थी, और स्थल-पथ आय मुद्राध्यक्ष और विवीताध्यक्ष द्वारा। जलपथ आय के अन्तर्गत निम्नलिखित आय है।[2]

(१) कूलृप्त। यह कर नदी, समुद्र, झील आदि के किनारे बसे हुए ग्रामों से लिया जाता था। ऐसे ग्रामों की, बांध आदि बांधकर जल की बाढ़ से रक्षा करना राज्य का कर्तव्य था। इसीलिए यह कर लिया जाता था। ज्ञात होता है कि इसका परिमाण इतना ही होता था, जिससे राज्य इस कार्य के लिए कर्मचारी रखकर उनके वेतन तथा भत्ते का खर्च चला सके।

(२) नौका भाटक या नाव का भाड़ा। राज्य की ओर से मछेरों के लिये नाव रखी जाती थीं। उनके किराये के रूप में पकड़ी हुई मछलियों का छठाँ भाग लिया जाता था। यह कर शंख और मोती आदि निकालने वालों से भी लिया जाता था; वे चाहते तो सरकारी नावों का उपयोग न कर अपनी नावों से काम ले सकते थे।

(३) शुल्क। इस विषय पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। जल-पथ सम्बन्धी इस आय के विषय में इतना और कहना है कि समुद्र आदि के तट पर बसे हुए व्यापारी अपने माल का शुल्क, उसकी उतराई के समय देते थे, और वह आय इस मद में समझी जाती थी।

(४) यात्रा-वेतन। राजकीय नौकाएँ व्यापार के अतिरिक्त यात्रा के लिए भी रहती थीं। उनमें लोगों के यात्रा करने से जो आय होती थी, वह यात्रा-वेतन कहलाती थी।

---

[1] कौ० अ० २।२६ [2] कौ० अ० २।२८

(५) नदी-उतराई। कौटल्य ने लिखा है कि छोटे पशु (भेड़ बकरी आदि) की, और हाथ में भार लिए मनुष्य की, नदी-उतराई एक माषक दी जाय। सिर या पीठ पर उठाने योग्य बोझ से युक्त पुरुष की, और गाय घोड़े आदि पशु की, दो माषक, इत्यादि। बड़ी-बड़ी नदियों की उतराई इससे दुगनी हो।

स्थल पथ आय में मुद्रा, शुल्क, वर्तनी और अतिवाहिक मुख्य हैं। मुद्रा और शुल्क के विषय में पहले कह आये हैं। 'वर्तनी' अन्तःपाल को दिया जानेवाला, और अतिवाहिक मार्ग में सहायता करनेवाले रक्षकों का देय अंश है।[1] कौटल्य द्वारा निर्धारित, व्यापारियों से लिये जानेवाले ये राजकर एक प्रकार से बीमाकर कहे जा सकते हैं। यात्रादि में माल लुटजाने पर विवीताध्यक्ष, नाव या जहाज में पानी भरजाने से माल नष्ट होने की दशा में नावाध्यक्ष, और नगर में चोर आदि के द्वारा माल छिन जाने पर नगराध्यक्ष आदि राजकर्मचारियों को उसकी क्षति-पूर्ति करनी होती थी। इसी प्रकार आचार्य अन्तःपाल के सम्बन्ध में लिखता है कि यह अधिकारी विक्री का माल ढोनेवाली गाड़ी आदि से सवा पण, एक खुरवाले पशुओं पर एक पण, साधारण पशुओं (बैल आदि) पर आधा पण, छोटे पशुओं भेड़ आदि पर चौथायी पण तथा कंधों पर भार ढोनेवालों से एक माषक 'वर्तन' नामक कर ले। यदि किसी व्यापारी की कोई चीज नष्ट हो जाय तो अन्तपाल उसका प्रबन्ध करे, अन्यथा अपने पास से देवे।[2] बीमा न कहलाते हुए भी यह बीमे की कैसी सुन्दर व्यवस्था है।

---

[1]कौ० अ० २।४६

[2]कौ० अ० २।२१; आजकल यहां प्रचीन शाशन-आदर्श लुप्तप्राय हो गये हैं, फिर भी कभी-कभी किसी-किसी बात से उसकी धुंधली सी स्मृति हो जाती है। कुछ समय हुआ जैसलमेर में जाते हुए एक बारात का धन रास्ते में लुट गया। जैसलमेर पहुंचने पर राजा साहब

आय के मुख्य साधन—आय के मुख्य वर्ग तथा प्रत्येक वर्ग की मद्दें बतला कर आचार्य ने लिखा है कि 'मूल, भाग, व्याजी परिघ, कुलृप्त, रूपिक और अत्यय ये आय के मुख हैं। अर्थात् आय के साधनों में मुख्य हैं। इनमें से 'मूल को छोड़कर और सब के विषय में हम इस अध्याय में यथास्थान लिख चुके है। अर्थशास्त्र में 'मूल' का कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं हुआ; 'खनि' वर्ग की मद्दों में 'मूल्य' के विषय में कहा गया है। श्री० उदयवीर जी शास्त्री ने 'मूल' का अर्थ 'अन्न तथा फल आदि को बेचकर प्राप्त किया हुआ धन' किया है।

विशेष आय—यह तो हुई राज्य की, निर्धारित करों से होने-वाली आय। इसके अतिरिक्त राज्य को कुछ अन्य आय भी होती थी। जिस खेत, बाग, मकान, तालाब या मंदिर आदि का कोइ स्वामी न हो, अथवा जिसका स्वामी उसे पांच वर्ष तक उप-योग में न लावे, उस पर राज्य का अधिकार हो जाता है।[1] जिस गणिका की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी कोई लड़की न हो, तथा जिस की माता भी जीवित न हो, उसकी सम्पत्ति का मालिक भी राजा ही समझा जाता था।[2]

आपत्कालीन आय—ऊपर जिस आय का अब तक वर्ण किया गया है, वह साधारण उपस्थित में होनेवाली आय थी। अर्थ-संकट परिस्थिति होने या राजकोष कम होने की दशा में राज्य को किन-किन उपायों का अवलम्बन करके आय-वृद्धि करनी चाहिये, इस का भी कौटल्य ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। इस के लिये उसने अर्थशास्त्र का 'कोष का अधिक संग्रह' शीर्षक

को इस विषय की सूचना दी गयी। उन्होंने तुरन्त क्षति-पूरक द्रव्य सरकारी कोष से दे दिया और तदुपरान्त लुटेरों की खोज में निकले और बहुत कुछ माल का पता लगाने में सफल भी हुए।

[1] कौ० अ० ३।६ [2] कौ० अ० २।२७

एक पूरा अध्याय दिया है। वह लिखता है कि बड़े या छोटे जनपद से जिसमें खूब वृष्टि होती हो, अथवा जहाँ बहुत धान्य हो, अन्न का तीसरा या चौथा हिस्सा राजा प्रजा से माँग कर (उसकी अनुमति से) लेवे। इसी प्रकार मध्यम और क्षुद्र आयवाले स्थानों से वहाँ की उपज के अनुसार लेवे।" साधारण नियमानुसार (जब किं राज्य को सिंचाई के लिये विशेष व्यवस्था न करनी हो) 'भाग' की मात्रा छठाँ हिस्सा ही होनी चाहिये। परन्तु यहाँ ऐसी परिस्थिति के सम्बन्ध में विचार है जब की राजकोष का क्षय हुआ हो और आर्थिक संकट विद्यमान हो। इस विशेष दशा के लिये आचार्य एक-तिहाई उपज तक लिए जाने की अनुमति देता है। परन्तु उसका यह आदेश नहीं है कि यह प्रजा से जोर जबरदस्ती करके ली जाय।

संकट-काल में, अन्य वस्तुओं पर लिये जानेवाले कर के परिमाण के सम्बन्ध में कौटल्य लिखता है कि हाथी-दांत और गौ आदि के चमड़े का आधा भाग लिया जाय। सोना, चाँदी, हीरा, मणि, मोती, मूंगा घोड़े और हाथी पर मूल्य का पाचावाँ भाग; सूत, कपड़ा, ताम्बा, पीतल, कांसा, गंध, जड़ीबूटी, और शराब पर चालीसवाँ भाग, धान्य, तेल घी आदि रस, और लोहे पर, तथा गाड़ी चलाकर आजीविका प्राप्त करनेवालों से तीसवाँ भाग; कांच का व्यवहार करनेवालों और बड़े-बड़े कारीगरों से बीसवाँ भाग; छोटे कारीगरों से, तथा पशु-पालन करने वालों से दसवाँ भाग, लकड़ी, बांस, पत्थर, मिट्टी के बर्तन, मकान, हरे शाक आदि पर पाँचवाँ हिस्सा राजकर लिया जाय।[1] नट तथा रूपा जीवा अपनी

[1] इस पाठ के अनुवादकों तथा टीकाकारों में बहुत मतभेद है। मूल शब्द 'पञ्चाशत्त करा:' ......दश करा:' आदि हैं। कुछ लेखकों ने इनका आशय 'पचास फी सदी'......'दस फी सदी' पांच फी सदी

आय में से आधा हिस्सा राजकर देवें। मुर्गे, सुअर पालने-वाले, उनकी बढ़ती का आधा: भेड़ बकरी पालनेवाले छठाँ गाय, भैंस, खच्चर, गधे और ऊंट पालनेवाले दसवाँ हिस्सा राज-कर दें।' परन्तु कौटल्य का स्पष्ट मत है की राजा को चाहिए कि इस प्रकार का अधिक कर एक ही बार लेवे दूसरी बार कभी न लेवे, क्योंकि इसमें प्रजा के असन्तोष का भय रहता है।

आगे आचार्य लिखता है कि 'यदि उपर्युक्त रीतियों से कोष का संचयन किया जा सके तो समाहर्ता को चाहिये कि वह किसी कार्य को बता कर 'पौर जनपद' से धन मांगे ('भिक्षत.)। संकेत किए हुए समाहर्ता के पुरुष पहले उस कार्य में अधिक-से-अधिक धन दें। तदनन्तर उसी निमित्त से राजा 'पौर जानपद' से धन मांगे। यह ध्यान देने योग्य है कि आचार्य संकट-काल में भी धन संग्रह के कार्य में बल-प्रयोग की अनुमति नहीं देता। जो आदमी राजा को धन की सहायता करे, उन्हें राज्य की ओर से अधिकार-स्थान (उपाधि आदि), छत्र, खास तरह की पगड़ी (साफा) या आभूषण आदि देकर सम्मानित की जाने की भी

लिया है श्री० शाम शास्त्री ने तो इसका अनुवाद 'पचासकर' ...'दस कर' 'पाँच कर' करके पाद टिप्पणी में यह लिख दिया है कि 'कर' का अर्थ दस पण प्रतीत होता है' हमें यह दोनों अर्थ ठीक नहीं जंचते। साधारणतः कर की मात्रा अधिक मूल्यवान वस्तुओं पर प्रतिशत कम होती है और कम मूल्यवान वस्तुओं पर प्रतिशत अधिक। इस विचार से सोना चाँदी आदि पर पचास फी सदी की अपेक्षा पाँच फी सदी कर अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

साधारण अवस्था में इन वस्तुओं पर कर किस हिसाब से लिया जाय, यह अर्थशास्त्र से स्पष्ट नहीं होता, कारण कि 'कोष का अधिक संग्रह' प्रकरण छोड़ कर और कहीं इसका उल्लेख नहीं मिलता।

आचार्य ने व्यवस्था की है। यह बात अब भी प्रचलित है।

कौटल्य का यह भी मत है कि संकट-काल में राजा मंदिरों और धार्मिक संस्थाओं से, भिन्न-भिन्न चालाकियों तथा बहानों से धन प्राप्त करे और इस कार्य में गुप्तचरों तक का प्रयोग करे। परन्तु उसका आदेश है कि इस प्रकार केवल दुष्टों तथा अधार्मिक व्यक्तियों से ही धन संग्रह किया जाय, धार्मिकों से नहीं; साथ ही प्रजा पर किसी प्रकार की ज्यादती न की जाय।

स्मरण रहे कि उपर्युक्त उपायों के अवलम्बन करने का अवसर बहुत कम आता था; कारण कि कौटल्य साधारण दशा के सम्बन्ध में यह आदेश करता है कि कोष्ठागाराध्यक्ष जिन्स में आनेवाली अधिकतर आय का आधा हिस्सा जनपद पर आपत्ति आने के समय में उपयोग में लाने के लिये सुरक्षित रख लेवे, और आधे सामान का भोजन आदि में उपयोग करे।[1]

आधुनिक दृष्टि से विचार—इस अध्याय में यहाँ तक हमने कौटल्य की बतलायी हुई आय की मदों का परिचय दिया है। अब तनिक आधुनिक दृष्टि से विचार करें। स्मरण रहे कि उस समय सरकारी आय इकट्ठी ही थी, उसके केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय भेद नहीं थे। आजकल भारतवर्ष की केन्द्रीय और प्रान्तीय आय की मुख्य-मुख्य मदें निम्नलिखित हैं, (स्थानीय के विषय में आगे लिखा जायगा।) :—

(१) आयात-निर्यात-कर, (२) उत्पादन कर, (३) आय-कर, (४) नमक, (५) अफ़ीम, (६) मालगुजारी, (७) आबकारी, (८) स्टाम्प, (९) रजिस्टरी, (१०) अन्य आय (रजवाड़ों से नजराना तथा सिनेमा आदि खेल तमाशों का कर), (११) रेल (१२) आबपाशी, (१३) जंगल, (१४) डाक और तार, (१५) सूद की आय, (१६) सिविल शासन, (१७) मुद्रा टकसाल और विनिमय,

[1] कौ० अ० २।१५

(१८) सिविल निर्माण कार्य, (१६) सैनिक आय, (२०) विविध (स्टेशनरी और रिपोर्ट आदि की बिक्री)।

(१) आयात-निर्यात-कर। इस प्रकार का कर पहले 'शुल्क, नाम से प्रचलित था। आचार्य ने शुल्क के दो भेद बतलाये हैं, निष्काम्य और प्रवेश्य।[१] निष्काम्य को निर्यात कर और प्रवेश्य को आयातकर कह सकते हैं। विविध पदार्थों पर लिये जानेवाले शुल्क की दर देकर कौटल्य लिखता है कि 'राजा को चाहिए कि वह नये और पुराने विक्रेय पदार्थों के शुल्क की, भिन्न-भिन्न देश तथा जाति के आचारों के अनुसार स्थापना करे। इस प्रकार जो देश भारतवर्ष से रियायत करते थे, उनके साथ रियायत करने का आदेश आचार्य ने दिया है, जिससे स्वदेश का हित हो। नमक शराब आदि जिन पदार्थों का राज्य को एकाधिकार था, उनके विदेश से आने की दशा में उन पर आयात-कर के अतिरिक्त अन्य कर भी लिया जाता था।

(२) उत्पादन-कर। यह कर भारतवर्ष में अब कुछ वर्षों से लगने लगा है। इस समय यहाँ चीनी और दियासलाई पर लगता है, विदेशों से आनेवाली इन वस्तुओं पर भारी संरक्षण कर लगने के कारण वहाँ से इन वस्तुओं का आयात कम होता है, और इस लिए सरकार की इस मद्द सम्बन्धी आय भी कम होती है। उसकी पूर्ति के लिए यह कर लगाया जाता है। कौटल्य ने 'द्वार' नामक उत्पादन-कर की व्यवस्था की है। अर्थ शास्त्र से यह विदित नहीं होता कि कर किन-किन वस्तुओं पर लगाया था।

३—आय कर। इस प्रकार का कोई व्यापक कर, कौटलीय अर्थ शास्त्र में नहीं मिलता। केवल वेश्याओं, जुवारिओं और नट गायक, वादक आदि तमाशा दिखानेवालों से ही आय-कर लिया जाता था।

---

[१]कौ० अ० २।२२।

४—नमक। भारतवर्ष में झीलों, समुद्रतटों और पहाड़ों आदि से काफी नमक मिलता था। तथापि विदित सोता है कि कुछ नमक यहाँ बाहर से भी आताथा। आचार्य ने उस पर साधारण कर के अतिरिक्त उसके मूल्य के छठाँ हिस्से पर अधिक लिये जाने का आदेश किया है। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ के नमक पर भी कुछ कर लगता था, परन्तु साधारण स्थिति के बहुत से आदमी इस कर से मुक्त थे। वे अपनी आवश्यकतानुसार नमक बनाने के लिए स्वतंत्र थे। इस प्रकार जहाँ तक सर्वसाधारण का सम्बन्ध है, यह कर न होने के ही बराबर था। उन्हें इस जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक, पदार्थ के वास्ते कर-भार सहन नहीं करना पड़ता था। इस सम्बन्ध में आचार्य का निम्नलिखित कथन स्मरण रखने योग्य है:—जो पुरुष राजा की अनुमति लिए विना ही नमक उत्पन्न करता, तथा उसका व्यापार करता है, उसे भी उत्तम साहस दंड दिया जाय। परन्तु यह नियम वानप्रस्थ अर्थात् वन में रहनेवालों के लिए नहीं है, अर्थात् वे राजा की अनुमति विना भी नमक तैयार करके उसका उपयोग कर सकते हैं।" यही नहीं, आगे आचार्य यह भी लिखता है कि श्रोत्रिय (वेदों का अध्ययन करनेवाले) तपस्वी तथा बारबरदारी या मजदूरी करनेवाले पुरुष भी विना शुल्क के अपने उपयोग के लिए नमक तैयार कर सकते हैं।" आशा है, इस उद्धरण का विचार करने पर उन लोगों का कुछ कहना निस्सार हो जायगा, जो यहाँ के आधुनिक नमक कर के समर्थन में कौटल्य का दृष्टान्त दिया करते हैं। आधुनिक नमक-कर का प्रबल विरोध इसलिए किया जाता है कि इसका भार गरीबों पर भी पड़ता है। निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी इस कर से मुक्त नहीं है। आचार्य कौटल्य की व्यवस्था में नमक-कर का स्थान तो था, पर उसके भार से निर्धन लोग सर्वथा मुक्त थे। उन्हें अपने उपयोग के लिए

निःशुल्क नमक बनाने की पूर्ण स्वतंत्रता थी।

(५) अफीम। इस पदार्थ के उपयोग या इसके कर का अर्थशास्त्र में उल्लेख नहीं है।

(६) मालगुजारी। 'भाग' नाम से, इस प्रकार का कर पहले भी था, परन्तु उपज का हिस्सा जिन्स में चुकाये जाने के कारण किसानों पर इसका अनुचित भार नहीं पड़ता था, तथा ऐसी नौबत नहीं आती थी कि मालगुजारी चुकाने के लिए उन्हें फसल का इतना अंश बेच देना पड़े कि उनके पास खाने-पहनने को भी न रहे। अधिकांश भूमि ऐसी थी जिस पर लोगों का वैयक्तिक अधिकार था, राज्य का स्वामित्व नहीं।

(७) आबकारी। शराब से राज्य को आय थी। वह इसे अपने कारखानों में बनाकर बेचता था तथा इसका ठेका भी देता था। परन्तु इस पदार्थ के उपयोग के नियंत्रण का भी बहुत ध्यान रखा जाता था। हाँ, उत्सव और यात्रादि कुछ दशाओं में लोगों को इसके बनाने की अनुमति देकर उन्हें इस के कर से मुक्त रखने की भी व्यवस्था थी। अर्थशास्त्र में इस पदार्थ के उपयोग के नियंत्रण के कितने ही नियम दिये गये हैं, आचार्य को इस मद की आमदनी के लिए जनता के हित का बलिदान किया जाना अभीष्ट न था।

(८) स्टाम्प। इस प्रकार का कोई कर नहीं था। न्याय-प्राप्ति धनी निर्धन सब के लिए समान रूप से सुलभ थी। अपील प्रायः नहीं होती थी। मुकदमेबाजी बहुत कम थी।

(९) रजिस्टरी। इस प्रकार का कोई कर उस समय नहीं था।

(१०) अन्य आय अर्थात् रजवाड़ों से नजराना तथा सिनेमा आदि खेल तमाशों का कर। अन्य राष्ट्रों से हिरण्य संधि तथा भूमि संधि के द्वारा आय होती थी। नट आदि के खेल-तमाशों पर भी कर था, परन्तु इस बात का पर्याप्त ध्यान रखा जाता था

कि कोई बस्ती इन खेल-तमाशों में अत्यधिक समय या द्रव्य व्यय करके बहुत क्षति न उठावे। यह नहीं था कि कोई कम्पनी राजकीय कर देकर, चाहे जितने दिन तक लोगों का धन अपहरण कर सके, या उन्हें उत्तेजक अश्लील दृश्य दिखाती रहे।

(११) रेल। उस समय रेल न होने से, राजा को इस मद की आय भी नहीं थी।

(१२) आबपाशी। 'भाग' नामक कर निश्चित करने में सींचाई की सुविधाओं का भी ख्याल रखा जाता था; आबपाशी की तरह का पृथक् कर उस समय नहीं था।

(१३) जंगल। इस मद से राज्य को अच्छी आय होती थी, जंगलों की रक्षा का बहुत ध्यान रखा जाता था। परन्तु तपोवन, ब्रह्मारण्य आदि कई प्रकार के वन ऐसे भी रहते थे जिनके सम्बन्ध में राज्य कोई कर नहीं लेता था; प्रजा इनका यथेष्ट उपयोग करती थी, और उसे आजकल की तरह लकड़ी, कंडों या चरागाह की भूमि आदि का कष्ट न था।

(१४) डाक और तार। तार उस समय नहीं था, डाक की भी व्यवस्था आदमी अपने तौर से करते मालूम होते हैं। अस्तु, इस प्रकार का कोई कर उस समय नहीं था।

(१५) सूद। राज्य उस समय लोगों को आवश्यकतानुसार प्रायः सहायता ही देता था, ऋण नहीं। इसलिए इस मद की विशेष आय का उल्लेख नहीं मिलता।

(१६) सिविल शासन। इस मद की आय में न्याय, जेल, पुलिस, बंदरगाह, शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि उद्योग आदि विभागों से होनेवाली आय गिनी जाती है। कौटल्य की बतलायी हुई आय की मद्दों में दंड अर्थात् जुरमाने की आय को छोड़कर इस प्रकार की अन्य किसी आय का उल्लेख नहीं मिलता। उद्योग और कृषि

से जो 'भाग' आदि आय प्राप्त की जाती थी, वह इस मद में नहीं आ सकती।

(१७) मुद्रा, टकसाल और विनिमय। इस मद की आय थी, परन्तु इसके साथ प्रजा को अपने सिक्के ढलवाने का भी अधिकार था।

(१८) सिविल निर्माण कार्य। इस मद में आजकल सरकारी मकानों का किराया तथा उनकी बिक्री आदि का रुपया समझा जाता है। ऐसी आय का उल्लेख 'अर्थशास्त्र' में नहीं है।

(१९) सैनिक आय। इस मद में सैनिक स्टोर, कपड़े, दूध, मक्खन तथा पशुओं की बिक्री से होनेवाली आय समझी जाती है। इस प्रकार की आय उस समय भी होती होगी, यद्यपि वह स्वतंत्र मद में नहीं गिनी जाती थी।

(२०) विविध आय। इस मद में स्टेशनरी और रिपोर्ट आदि की बिक्री से होनेवाली आय गिनी जाती है। 'अर्थशास्त्र' में इसका उल्लेख नहीं है।

आधुनिक स्थानीय कर और कौटल्य—अब हम तनिक यह विचार करें कि आधुनिक स्थानीय करों में से कौन-कौनसे अर्थशास्त्र में हैं, और कौन-कौनसे नहीं हैं।

(क) चुंगी। इस प्रकार का कर शुल्क के अन्तर्गत आ जाता है।

(ख) मकान और ज़मीन पर टैक्स। इस प्रकार के किसी कर का उल्लेख अर्थशास्त्र में नहीं मिलता।

(ग) व्यापार धन्धों पर टैक्स। इस तरह के फुटकर कर अर्थशास्त्र में वणिक, व्याजी, वैधरण, रूप, रूपिक आदि बताये गये हैं।

(घ) सड़क, पुल तथा नावों का महसूल। इस प्रकार के करों

का उल्लेख अर्थशास्त्र में वर्तनी और 'नौ भाटक' आदि नाम से हुआ है।

(च) गाड़ी, इक्का, बग्गी, साइकल, मोटर आदि सवारियों पर कर। इन सवारियों में जो उस समय थीं, उन पर किसी कर के होने का पता नहीं लगता।

(छ) नल, रोशनी, पाखाने, हाट बाजार और कसाईखाने का महसूल। नल और पाखाने तत्कालीन सभ्यता में नहीं थे। रोशनी तथा हाट बाजार सम्बन्धी किसी पृथक् कर का उल्लेख नहीं पाया जाता। कसाईखाने का महसूल 'सूना' नामक आय के अन्तर्गत समझा जा सकता है।

(ज) स्कूल फीस। शिक्षा उस समय पूर्णतः निःशुल्क थी। अमीर हो गरीब, प्रत्येक छात्र बिना फीस दिये वैयक्तिक, सार्वजनिक अथवा राज्याश्रित शिक्षा-संस्था में उच्च-से-उच्च शिक्षा पा सकता था।

(झ) पशुओं पर कर। पशुओं की बिक्री पर तो अन्य वस्तुओं की भांति कर था, परन्तु वह इस प्रकार का कर नहीं था।

विशेष वक्तव्य—कौटल्य द्वारा निर्धारित सरकारी आय का बहुत-कुछ अंश जिन्स में होने के कारण अब इतने समय बाद उसके परिमाण का ठीक ठीक अनुमान कर सकना कठिन है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वह आय खसी बड़ी मात्रा में रही होगी। पहले कहा जा चुका है कि कौटल्य ने ऐसी व्यवस्था की है कि साधारणतया जिन्स में आनेवाली आय के आधे भाग से ही राज्य के कार्य सम्पादित हो सकें, और आधी आय संकट-काल के लिए सुरक्षित रहे।[1]

---

[1]प्राचीन काल में राजाओं को बचत रखने की बड़ी जरूरत रहती थी, क्योंकि आजकल की तरह मनमाने नये कर नहीं लगाये जा सकते थे, पुराने कर भी बढ़ाये नहीं जा सकते थे। —महाभारत मीमांसा

साधारण दृष्टि से देखने पर ऐसा मालूम होता है कि उस समय प्रजा करों के भार से बेहद दबी हुई होगी। परन्तु स्मरण रहे कि अब पहले की अपेक्षा करों की संख्या भले ही कम हो, उनसे होनेवाली आय का परिमाण कम नहीं, कुछ दशाओं में वह बहुत अधिक हो जाता है। उदाहरणवत् आज-कल बड़े-बड़े कल कारखानों के मालिकों से आय-कर खूब बड़ी मात्रा में मिल जाता है। आय के ऐसे बड़े साधनों के न होने की दशा में, पहले कई कर लगाना स्वाभाविक ही था।

अन्य अनेक प्राचीन हिन्दू राजनीतिज्ञों की भाँति आचार्य ने प्रत्येक प्रकार के कर का परिमाण निर्धारित कर दिया है। इस प्रकार लोभी राजा किसी कर की मात्रा अपनी इच्छानुसार नहीं बढ़ा सकता था। प्रजा को यह मालूम रहता था कि उसे अमुक वस्तु के उत्पादन या उस के व्यापार पर इतना कर देना है। इससे उसमें और राजा में कर सम्बन्धी किसी संघर्ष की सम्भावना ही नहीं रहती थी।

कौटल्य ने इस बात का समुचित ध्यान रखा है कि कोई राजकर, या राजकोष में आनेवाली अन्य आय ऐसी न हो, जिसके देने में प्रजा के आदमियों को कष्ट या असुविधा हो, या उनकी व्यक्तिगत अथवा सामाजिक या नैतिक उन्नति में ही कोई वाधा उपस्थित हो। उसने कर की मात्रा के साथ, कर देने के समय तथा कर के रूप की भी, जनता की सुविधा की दृष्टि से, योजना की है। अन्यान्य बातों में वह लिखता है कि प्रजा से धन इस प्रकार लिया जाय, जैसे वाटिका से पका हुआ फल लिया जाता है। प्रजा को कुपित करनेवाला कोई अनुचित कर न लिया जाय। ऐसा करने से उससे भविष्य में होनेवाली विशेष आय की हानि होती है, जैसे कच्चा फल तोड़ने से पीछे मिलनेवाले पके फल से वंचित होना पड़ता है।

उस समय यहाँ की सरकारी आय स्वदेश में ही रहती थी। इसके अतिरिक्त अधिकतर आय जिन्स में होती थी, और उपज का निर्धारित भाग होने के कारण देनेवालों को अखरती नहीं थी।

हम पहले बता चुके हैं कि यहाँ करों से होने वाली आय, राजा को उसके योगक्षेम तथा रक्षा कार्य के लिए दिये जाने का सिद्धान्त मान्य रहा है। इस प्रकार राजकर मानों जनता की शारीरिक मानसिक और नैतिक उन्नति के बीमे के शुल्क थे।

पन्द्रहवाँ अध्याय

—:○○:—

राजस्व

(२) सरकारी व्यय

पिछले अध्याय में राजकीय आय के विषय में लिखा जा चुका है। अब इस अध्याय में इस बात का विचार किया जायगा कि 'अर्थशास्त्र' के अनुसार व्यय की मदें कौन-कौन-सी हैं तथा आचार्य कौटल्य का उस के सम्बन्ध में क्या मत है ? स्मरण रहे कि जिस प्रकार राज्य को आय जिन्स तथा नकदी में, दोनों रूप में, होती थी, उसी प्रकार राज्य का व्यय भी इन दोनों रूप में होता था, केवल नकदी में नहीं। इससे जहाँ राज्य को यह सुभीता था कि वह अपनी जिन्स में आयी हुई आय की बहुत-सी वस्तुओं को बेचने के झंजझ से मुक्त रहता था, राजकर्मचारियों को भी यह लाभ था कि वस्तुओं का मूल्य घटने-बढ़ने की दशा में (उनका वेतन वही बना रहने पर भी) उनकी आर्थिक स्थिति में विशेष अन्तर नहीं पड़ता था; उन्हें बहुतसे उपभोग्य पदार्थ उसी परिमाण में मिलते रहते थे; यह बात साधारण वेतन वालों के लिए तो बहुत ही कल्याणकारी थी, वे इससे अपने जीवन-निर्वाह की सामग्री जुटाने की चिन्ता से रहित रहते थे।

व्यय के प्रकार—तत्कालीन राजकीय व्यय की हिसाबपद्धति जानने के लिए कौटल्य का एक उद्धरण उपयोगी होगा। वह लिखता है कि व्यय चार प्रकार का होता है:—नित्य, नित्योत्पादिक, लाभ और लाभोत्पादिक। जो व्यय प्रति दिन नियमपूर्वक होता हो, उसे "नित्य" कहते हैं। पाक्षिक, मासिक तथा वार्षिक

लाभ के लिए जो धन व्यय किया जाता है उसे 'लाभ' कहते हैं। 'नित्य' व्यय के साथ इसके लिए निर्धारित धन से अधिक खर्च होनेवाले व्यय को 'नित्योत्पादिक'; और 'लाभ' व्यय के साथ इसके लिए निर्धारित धन से अधिक व्यय होने वाले व्यय को 'लाभोत्पादिक कहते हैं।'[1]

व्यय की मदें—राजकीय व्यय के सम्बन्ध में आचार्य ने बहुत कम प्रकाश डाला है। अर्थशास्त्र के चौबीसवें प्रकरण में व्यय की मदें ये बतलायी गयी हैं:—देवपूजा, पितृपूजा, दान, स्वस्तिवाचन, अन्तःपुर, महानस (पाकशाला), दूतविभाग, कोष्ठागार, आयुधागार, पण्यगृह, कुप्यगृह, कर्मान्त, विष्टि, पैदल, घोड़ा रथ और हाथी सेना, गोमंडल, पशु मृग पत्ती और व्याघ्र के रक्षा स्थान, लकड़ी और घास के स्थान। आगे इनके सम्बन्ध में क्रमशः विचार किया जाता है।

(१) देवपूजा—पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि मौर्यकाल में यहाँ राजकीय देवालयों की संख्या खासी बड़ी थी

कौ० अ० २।६

और उनके द्वारा बहुत आय भी होती थी। उन देवालयों तथा यज्ञशालाओं के निर्माण तथा मरम्मत आदि में, एवं पूजा-पाठ और हवन आदि में यथेष्ट खर्च होना स्वाभाविक था। कौटल्य ने जनता की भावना का आदर करके इस खर्च को प्रथम स्थान दिया है।

(२) पितृ पूजा—इस मद में राज्य के आदरणीय सज्जनों के के स्वागत-सत्कार, तथा ब्राह्मणों के निर्वाह आदि का व्यय सम्मिलित है।

(३) दान—इस मद में जनता की शिक्षा, चिकित्सा और सहायता आदि का समावेश है। शिक्षा निश्शुल्क थी। प्रत्येक ग्राम में पाठशालाएँ थीं। शिक्षकों को राज्य की ओर से बिना

लगान भूमि दी जाती थी। कुछ दशाओं में राजा अनुग्रह करके किसानों को भी कर आदि माफ कर देना था। इसके अतिरिक्त राज्य की ओर से अनाथों, विधवाओं, निराश्रितों अथवा अपाहिजों आदि के लिए नियमित सुव्यवस्था थी। इस प्रकार का सब खर्च दान में समझा जाता है।

(४) स्वस्तिवाचन—इसमें पुरोहित, ऋत्विक्, आचार्यों आदि के लिए होनेवाला व्यय समझना चाहिए। श्री० उदयवीर जी ने इसका अर्थ 'शान्ति तथा पुष्टि आदि के निमित्त पुरोहित को दिया हुआ धन' किया है।

(५) अन्तःपुर—राजभवन के निर्माण और रक्षादि में पर्याप्त धन व्यय होता था। वहाँ रानियों के हितरक्षक बहुत से वृद्ध और सदाचारी पुरुष-स्त्रियाँ रहती थी। राजा के साथ रक्षक रूप से कितनी ही धनुर्धारी स्त्रियाँ भी रहा करती थीं, जिन्हें अच्छे परिमाण में वेतन मिलता था। इनके अतिरिक्त वहाँ यथेष्ट संख्या में कर्मचारी, वैद्य और दूत आदि भी रहा करते थे।

(६) महानस (राज भोजनालय)—राजा, राजकुमार आदि के भोजन के लिए जो वस्तुएँ कोष्ठागार से दी जायँ, उनके परिमाण तथा गुण कौटल्य ने विस्तारपूर्वक बतलाये हैं। राजा के पशु पक्षियों अर्थात् हाथी, घोड़े, कुत्ते, हंस और मोरों आदि के लिए कौन-सी और कैसी वस्तु, किस मात्रा में दी जाय, इसका भी ब्यौरेवार उल्लेख है।[1] इससे मालूम होता है कि इस मद में काफी खर्च होता था, तथा इस ओर यथेष्ट ध्यान रखा जाता था।

(७) दूत प्रवर्तन—भिन्न-भिन्न प्रकार के राजदूतों के अतिरिक्त बृहद्संख्यक गुप्तचरों सम्बन्धी व्यय भी इसी मद के अन्तर्गत है। मौर्यकाल में गुप्तचर विभाग बहुत कुशल और महत्वपूर्ण था,

---

[1] कौ० अ० २।।१५

यह हम अन्यत्र बता चुके हैं, इसमें व्यय का परिमाण भी खासा बड़ा होना स्वभाविक है।

(८-१२) कोष्ठागार आदि—कोष्ठागार, आयुधागार, पण्य गृह, कुप्यगृह और कर्मान्त (कृषि व्यापार) का सम्बन्ध बहुत से विभागों से है। इन विविध विभागों के अध्यक्षों द्वारा चलाये जानेवाले कारखानों में राज्य के लिए भी सामान बनाया तथा संग्रह किया जाता था, और प्रजा के हाथ बेचने के लिए भी। इन अध्यक्षों तथा इनके अधीन काम करनेवाले विशेषज्ञों और अन्य कर्मचारियों के वेतन तथा आवश्यक सामग्री का व्यय इन मद्दों में गिना जाता था। वेतन के सम्बन्ध में विशेष आगे इसी अध्याय में लिखा जायगा।

(१३) विष्टि—इस मद में माप तोल आदि साधारण कार्य करनेवालों तथा कुली मजदूर आदि के सम्बन्ध में होनेवाला व्यय सम्मिलित है। श्री० उदयवीर जी ने विष्टि का अर्थ 'हठ-पूर्वक कराये हुए कार्य का व्यय' किया है।

(१४) सैनिक व्यय—अन्यत्र कहा जा चुका है कि उस समय साम्राज्य की रक्षा के लिए विराट आयोजन था। पैदल, घुड़सवार रथ और हाथी इन चारों प्रकार की स्थल सेना, एवं नौ सेना बहुत बड़ी मात्रा में रहती थी। मनुष्यों के वेतनादि के अतिरिक्त, हाथी, घोड़े तथा अन्य पशुओं को रखने और शिक्षा देने, आवश्यकतानुसार उनकी चिकित्सा करने तथा विविध प्रकार के शस्त्रादि युद्धोपयोगी सामग्री तैयार कराने में बहुत व्यय होता था। हाँ, सैनिक व्यक्ति तथा उनके उपयोग में आनेवाले पदार्थ सब स्वदेशी होते थे। उनमें खर्च किया जानेवाला द्रव्य कहीं विदेशों को नहीं जाता था। फिर, जैसाकि हम पहले बता आये हैं राज्य को बहुत-सी आय जिन्स में होती थी; वह प्राप्त वस्तुओं को सेना के आदमियों में हाथ बढ़े हुए मूल्य पर, कभी-

कभी तो सौ-सौ प्रतिशत मूल्य बढ़ाकर बेच देता था।[1] कौटल्य ने यह भी लिखा है कि सात प्रकार की सेनाओं[2] में से शत्रु सेना, तथा आटविक सेना को वस्त्र आस्तरण आदि द्रव्य अथवा शत्रु के देश का जीता हुआ या लूटा हुआ माल ही वेतन के रूप में दिया जाय, अर्थात् इन्हें नियत मासिक वेतन नकदी में न दिया जाय।[3] इस प्रकार सेना का व्यय प्रजा के लिए बहुत भारी नहीं होता था और हाँ, प्रजा उस समय धनी और सम्पन्न थी, और उसकी सुख-समृद्धि के वास्ते राज्य यथेष्ट रूप से प्रयत्न-शील था, इसका भी तो यथेष्ट प्रमाण 'अर्थशास्त्र' में तथा अन्यत्र मिलता है।

(१५) गो मंडल—यह गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकड़ी, गधा, ऊँट आदि का व्यय है। राज्य इन पशुओं के रक्षक, पालक, दोहक आदि कर्मचारियों के अतिरिक्त, इन की रक्षा के लिए कुत्ते भी रखता था। इन कर्मचारियों के वेतन आदि के अतिरिक्त, पशुओं के भोजन तथा चिकित्सा आदि का व्यय इस मद के अन्तर्गत है।

१६-१७—पशु, पक्षियों की तथा व्याघ्र आदि हिंसक जानवरों की रक्षा के स्थान, या अजायबघरों आदि में, तथा लकड़ी घास आदि के संग्रह के लिए भी राज्य को व्यय करना होता था।

राजकर्मचारियों का वेतनादि—राज्य उस समय न केवल शासनप्रबन्ध ही करता था वरन विविध उत्पादन कार्यों की भी व्यवस्था करता था; उसे बहुसंख्यक कर्मचारी रखने होते थे, और इनका वेतनादि सरकारी व्यय का एक विशेष भाग होता था।

[1] कौ० अ० ५।३

[2] इनका उल्लेख पहले राज्य के रक्षा-कार्य के प्रसंग में किया जा चुका है।

[3] कौ० अ० ६।२

राज्य द्वारा, वेतन में दी जानेवाली कुल रकम के बारे में कौटल्य लिखता है कि दुर्ग और जनपद की शक्ति के अनुसार, नौकरों के लिए सम्पूर्ण आय का चौथा भाग व्यय किया जाय ; अथवा, कार्य करने में समर्थ भृत्य जितने धन से मिल सकें, उतना ही धन देकर (चाहे वह सम्पूर्ण आय के चतुर्थांश से अधिक भी हो), उनकी नियुक्ति की जाय। आचार्य राजकर्मचारियों के वेतन का मान या 'ग्रेड' निर्धारित करता है, जिसमें नकदी के साथ जिन्स में दिये जानेवाले पदार्थ भी सम्मिलित हैं ; वह प्रति साठ पण के पीछे एक आढक अन्न (भत्ता) दिये जाने का आदेश करता है।

आचार्य की वार्षिक वेतन-सूची इस प्रकार है:—

ऋत्विक्, पुरोहित, मंत्री, सेनापति, युवराज, राजमाता, और राजमहिषी (महाराणी) ४८००० पण।

दौवारिक (राजद्वार का मुख्याधिकारी), अन्तर्वंशिक (अन्तःपुर का रक्षक), प्रशास्ता (सेना सम्बन्धी प्रधान अधिकारी) समाहर्ता और सन्निधाता २४००० पण।

राजकुमार (युवराज के अतिरिक्त), इन राजकुमारों की माताएँ, या महाराणी के अतिरिक्त अन्य राणियाँ या धाय नायक (सेना संचालक), पौर व्यावहारिक, कार्मान्तिक (कारखानों का अध्यक्ष), मंत्रिपरिषद् के सदस्य, राष्ट्रपाल (प्रधान पुलिस अधिकारी) अन्तपाल (सीमा निरीक्षक) १२००० हजार पण।

श्रेणीमुख्य (शिल्पियों के निरीक्षक), हाथी, घोड़े और रथों के निरीक्षक, प्रदेष्टा (कटक शोधनाधिकारी), ८००० पण।

पैदल सेना का अध्यक्ष, अश्वारोही, रथारोही, गजारोही,

---

[1]कौ० अ० ५।४; कौटल्य के दिये हुए परिमाणों के अनुसार, एक आढक आज-कल के हिसाब से लगभग दो सेर होता है।

सेनाओं के अध्यक्ष, लकड़ी और हाथियों के जंगलों के निरीक्षक, ४००० पण।

रथिक (रथ चलाना सिखानेवाला), सेना के चिकित्सक, अश्व-शिक्षक, पशु-पक्षियों को पालनेवाले २००० पण।

कार्तान्तिक (हाथ आदि के चिन्ह देखकर मनुष्यों के भूत तथा भविष्यत् को बतानेवाले), नैमित्तिक (शकुन बतानेवाले) मौहूर्तिक (ज्योतिषी), पौराणिक (पुराणों की कथा कहनेवाले), सूत (सारथि) मागध (स्तुति पाठ करनेवाले), पुरोहित के भृत्य, और वे सब अध्यक्ष जिन का ऊपर उल्लेख नहीं हुआ है, १००० पण।

शिल्पवान (चित्रकार), पादात (गदका, तलवार आदि खेलने में चतुर), संख्यायक (हिसाब करनेवाले) तथा लेखक आदि को ५०० पण।

कुशीलव अर्थात गाने बजानेवाले या नट आदि. २५० से ५०० पण तक। साधारण कारीगर और शिल्पी १२० पण। पशुओं के परिचारक (साईस आदि), नौकर' चपरासी, अड़दली, मजदूर आदि और गोपालक, ६० पण।

युक्तारोहक (बिगड़े हुए घोड़े आदि पर भी अच्छी तरह सवारी करनेवाला), माणवक (वेदादि पढ़नेवाला), शैलखनक (पत्थर पर नक्काशी करनेवाला), सर्वोपस्थायिन आचार्य[1] और अच्छे विद्वान् पुरुषों को उनके सत्कारार्थ योग्यतानुसार ५०० से १००० पण तक।

राजसूय यज्ञों में काम करनेवालों को उनके साधारण वेतन से तिगुना।

---

[1] इसका अर्थ श्री उदयवीर जी शास्त्री ने 'गाने आदि में अत्यन्त चतुर गन्धर्वाचार्य' किया है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के गुप्तचर, योग्यतानुसार २५० से १००० पण तक।

आधुनिक दृष्टि से विचार—हम कौटल्य की बतलायी हुई व्यय की मदों का विचार, अर्थशास्त्र के आधार पर, कर चुके। अब तनिक आधुनिक दृष्टि से विचार करते हैं। जैसा कि पिछले अध्याय में, आय के प्रसंग में, कहागया है, उस समय सरकारी व्यय का वर्गीकरण केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय भागों में नहीं था। आजकल भारतवर्ष की केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यय की मदें निम्नलिखित हैं :—

(१) कर वसूल करने का खर्च (२) रेल (३) आबपाशी (४) डाक, तार (५) ऋण का सूद (६) सिविल शासन (७) न्याय, पुलिस, और जेल (८) शिक्षा (९) स्वास्थ्य और चिकित्सा (१०) कृषि और उद्योग (११) मुद्रा और टकसाल (१२) सिविल निर्माण कार्य (१३) सेना (१४) विविध।

(१) कर वसूल करने का खर्च। आजकल प्रत्येक जिले में एक-एक कलेक्टर (या डिप्टी कमिश्नर) और कई-कई तहसीलदार हैं। कलेक्टर और तहसीलदार का अर्थ है, मालगुजारी वसूल करने वला। कौटल्य की शासनपद्धति में एक पद समाहर्त्ता का है, जिसे आजकल कलेक्टर-जनरल कह सकते हैं, उसके अधीन विविध विभागों के अध्यक्ष तथा अन्य कर्मचारी थे, तथापि यहाँ प्रचीन काल में कर वसूल करने का खर्च बहुत कम था। इस का मुख्य कारण यह था कि स्थानीय पंचायतें अपने-अपने ग्राम या नगर से कर वसूल करने में बहुत सहायक होती थीं। कौटल्य ने इस बात का समुचित ध्यान रखा है कि जो कर कठिनाई से वसूल हों या जिनमें बहुत अधिक व्यय हो, वे न लगाये जायँ।

(२-३)—रेल, डाक और तार। उस समय यातायात आदि के इस तरह के सार्वजनिक उपयोग के साधन न थे। आचार्य ने

कबूतरों द्वारा संदेश भेजने का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र से 'शीघ्रवाहन' अर्थात तेज सवारियों एवं दूतों या हरकारों द्वारा समाचार भेजे जाने की बात भी मालूम होती है। कौटल्य ने लिखा है कि इशारे पर चलनेवाले घोड़े की गति को 'नारोष्ट्र' कहते हैं। रथ आदि के घोड़े ६, ९ और १२ योजन, तथा सवारी के घोड़े ५, ७½ और १० योजन चलते हैं।[1] अस्तु, सम्वादवाहन जैसे खर्च का कुछ अनुमान कौटल्य की 'दूत प्रवर्तन' नामक मद से होता है।

(४) आबपाशी। इस मद में यथेष्ट खर्च होता था। किसानों के लिए सिंचाई के साधन प्रस्तुत करने और उपज बढ़ाने के कर्त्तव्य को राज्य अच्छी तरह पालन करता था।

(५) ऋण का सूद। इस मद में आजकल करोड़ों रुपया प्रति वर्ष खर्च होता है। कौटल्य के करदाता इस भार से पूर्णतःमुक्त थे।

(६) सिविल शासन। इस मद में देश तथा प्रान्तों के प्रधान शासक और प्रबन्धकारिणी सभाओं के सदस्यों और मंत्रियों का वेतन तथा विविध व्यवस्थापक मंडलों और सरकारी कार्यालयों सम्बन्धी खर्च गिना जाता है। अर्थशास्त्र में इस प्रकार के खर्च की मद पृथक् नहीं है, ऐसा कुछ खर्च अन्य व्यय के अन्तर्गत है।

(७) न्याय, पुलिस और जेल। इन कार्यों के लिए आवश्यकतानुसार खर्च किया जाता था; हाँ, अर्थशास्त्र में पुलिस का अलग उल्लेख नहीं मिलता। उसका कार्य अधिकांश में गुप्त-चर विभाग द्वारा लिया जाता था। आजकल यहाँ इन मदों में जो खर्च सरकार करती है, उसके अतिरिक्त, उस खर्च का भी समावेश समझना चाहिए, जो जनता डाली, भेंट या रिशवत आदि के रूप में खर्च करती है। कौटल्य की शासनपद्धति में प्रायः इस की सम्भावना न थी।[2]

[1] कौ० अ० २।३०

(८-९) शिक्षा और स्वास्थ्यचिकित्सा। ऐसे कार्य राजकीय नियमों तथा तत्कालीन संस्कृति के कारण जनता बहुत-कुछ स्वयं कर लेती थी ; राज्य को उसका विशेष भार नहीं उठाना पड़ता था। तथापि वह आवश्यकतानुसार इन की यथेष्ट व्यवस्था करता था, जैसा कि हम अर्थशास्त्र की 'दान' शीर्षक मद के प्रसंग में पहले बता आये है।

(१०) कृषि, उद्योग। इन कार्यों को राज्य अपनी तथा प्रजा की आवश्यकताओं के लिए स्वयं भी संचालित करता था, इसलिए इनमें खर्च अच्छी मात्रा में होता था। अर्थशास्त्र की 'कर्मान्ति' नामक मद इसी प्रकार की है।

(११)मुद्रा और टकसाल। इसमें आवश्यकतानुसार खर्च होता था। टकसाल प्रजा के लिए खुली थी, कोई आदमी निर्धारित शुल्कादि देकर अपनी मुद्रा ढलवा सकता था। अर्थशास्त्र में इससे मिलती-जुलती मद 'पण्यगृह' है।

(१२) सिविल निर्माण कार्य। इस प्रकार का व्यय यथेष्ट था, कौटल्य ने राजभवन, तथा भिन्न-भिन्न अध्यक्षों के लिए उपयुक्त इमारतें बनवाने का ब्यौरेवार वर्णन दिया है।

(१३) सेना। इस मद में खूब खर्च होता था, आधुनिक पाठकों को वह अत्यधिक प्रतीत हो सकता है। परन्तु तत्कालीन परिस्थिति में बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता, फिर जैसा कि हम पहले कह आये हैं' कौटल्य ने ऐसी व्यवस्था की थी कि प्रजा पर उसका भार असह्य रूप में न हो।

(१४) विविध। इस मद में आजकल अकाल-निवारण, पेन्शन, स्टेश्नरी, छपाई, बन्दरगाह आदि का खर्च गिना जाता है। इस प्रकार के कुछ व्यय उस समय भी थे।

स्थानीय व्यय—आजकल स्थानीम व्यय की मुख्य मदें निम्न-लिखित होती हैं:—(१) सफाई, नालियाँ धोना, (२) सार्वजनिक

निर्माण कार्य, सड़क मकान आदि, (३) व्यवस्था और आय प्राप्ति का व्यय, (४) ऋण का सूद, (५) पानी के नल, (६) अग्नि, रोशनी, पुलिस; (७) अस्पताल और टीका, (८) शिक्षा।

जैसा पहले कहा जा चुका है पानी के नलों की व्यवस्था उस सभ्यता में नहीं थी। अन्य मदों के विषय में कौटल्य की व्यवस्था के सम्बन्ध में वही बातें कही जा सकती हैं, जो केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यय को उस सम्बन्ध की मदों के विषय में ऊपर कह आये हैं।

विशेष वक्तव्य—आय की भाँति, कौटल्यकालीन सरकारी व्यय के परिमाण का भी अनुमान कर सकना बहुत कठिन है, विशेषतया इसलिए कि बहुत-सा व्यय नकदी में न होकर जिन्स में होता था। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि कौटल्य राजकोष को अपव्यय के भार से यथासम्भव मुक्त रखने का इच्छुक था। इसलिए राजकर का खासा भाग पदार्थों के रूप में मिलने की दशा में भी, वह राज्य की ओर से विविध प्रकार के कारखाने खुलवाने की व्यवस्था करता है, जिससे राज्य को अपनी विविध आवश्यकताओं के लिए सामान खरीदने में रुपया खर्च न करना पड़े, वरन् उसे अपने अवशिष्ट पदार्थों को बेचने से कुछ आय ही होती रहे। वह सैनिकों को भक्तान्नादि खाद्य सामग्री बेचकर भी राजकीय व्यय में कमी करने का प्रयत्न करता है। निदान, उसने इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है कि प्रजा व्यर्थ के व्ययभार से मुक्त रहे और सुखी जीवन व्यतीत करे।

कौटल्य द्वारा निर्धारित आय-व्यय की आधुनिक दृष्टि से ठीक-ठीक तुलना और आलोचना करना बहुत कठिन है। जैसा हम पहले बता चुके हैं, कई प्रकार के कर उस समय बिल्कुल न थे, और कुछ कर आज-कल की अपेक्षा बहुत कम मात्रा में थे; यद्यपि कुछ छोटे-छोटे कर उस समय विशेष रूप से प्रचलित थे।

परन्तु करों के कम या ज्यादह होने का निर्णय करने के लिए केवल करों की संख्या या मात्रा का ही विचार कर लेना पर्याप्त नहीं है, उनके व्यय किये जाने की रीति पर भी सम्यक् ध्यान दिया जाना उचित है। अर्थात् यह सोचना आवश्यक है कि राज्य जितने कर लेता है, उनके उपलक्ष्य में वह जनता के लिए क्या-क्या कार्य करता है। ज्यों-ज्यों राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ता है, उसके द्वारा उक्त कार्यों के लिए आवश्यकतानुसार अधिक कर लिया जाना भी उचित है। अतः जब हम यह देखते हैं कि कौटल्य का राज्य प्रजा की सुख-शान्ति की ही व्यवस्था नहीं करता था, वरन् वह अनाथों, बेकारों, और विधवाओं आदि के लिए आवश्यक आजीविका का प्रबन्ध करने के वास्ते विविध प्रकार के कारखाने खोलता था, और एक प्रकार से जनता के जीवन निर्वाह का बीमा कर देता था—तो हम उस समय के करों को, आधुनिक करों से अधिक भारी नहीं कह सकते। यह एक मानी हुई बात है कि तत्कालीन प्रजा बहुत सुखी और सम्पन्न थी, आजकल की आधी भूखी-नंगी प्रजा उसकी तुलना में बहुत चिन्तनीय स्थिति में है। इससे यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि यदि कौटल्य के अनुसार निर्धारित, प्रति व्यक्ति के औसत कर का भार आजकल के समान हो, तो भी उस समय करों से प्राप्त आय, अधिक लोक-हित की दृष्टि से खर्च लिये जाने के कारण, वह कर-भार अपेक्षाकृत कहीं अधिक सुखकर था।

सोलहवाँ अध्याय

—:o:—

उपसंहार

—:oo:—

हम कौटल्य की शासनपद्धति सम्बन्धी विविध बातों का पृथक्-पृथक् विचार कर चुके। अब हम उस पद्धति के पूर्ण स्वरूप तथा तत्सबन्धी कुछ साधारण प्रश्नों पर विचार करेंगे।

क्या कौटल्य की शासनपद्धति पार्लिमेंटरी थी?—यह बताया जा चुका है कि कौटल्य ने जिस शासनपद्धति का विवेचन किया है, उसके अनुसार यहाँ लोगों को स्थानीय प्रबन्ध सम्बन्धी यथेष्ट स्वाधीनता थी, पौर जानपद सभाओं का संगठन था, मंत्रि-परिषद् तथा उसकी उपसमिति की व्यवस्था थीं, तथा राजा पर विविध प्रकार के नियमों के भी नियंत्रण थे, इस प्रकार वह स्वेच्छापूर्वक राजकार्य नहीं कर सकता था, तत्कालीन शासनपद्धति वैध राजतंत्र अथवा सचिवतंत्र थी। तथापि यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह आधुनिक पार्लिमेंटरी प्रथा से पूर्णतः मिलती थी; और हाँ, यह भी नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक काल में पार्लिमेंटरी प्रथा जिस शासनपद्धति की द्योतक है, वह सर्वथा निर्दोष है, अथवा कौटल्य द्वारा निर्दिष्ट शासनपद्धति से अच्छी ही है।

वास्तव में, प्रत्येक देश में, तथा समय-समय पर जो शासनपद्धति प्रचलित होती है, उसकी किसी अन्य शासनपद्धति से तुलना करना बहुत कठिन है। अस्तु, केवल यही कहा जा सकता है कि कौटल्य की शासनपद्धति पार्लिमैंट्री पद्धति से कुछ अंशों में मिलती हुई होने पर भी वह भारतवर्ष की अपनी वस्तु थी, और

उसमें देशकाल की परिस्थिति का काफी लिहाज रखा गया था, वह प्रजा के लिए यथेष्ट हितकर थी।

धर्म अर्थात् कानून का शासन—बहुधा विपक्षियों का यह कथन रहता है कि भारतवासी स्वेच्छाचारी शासन में रहते आये हैं, और यहाँ के राजतंत्र में राजा सर्वेसर्वा होता था। इसमें सन्देह नहीं कि ऊपर से देखने से ऐसा ही आभास मिलता है। राजा की मान मर्यादा, प्रतिष्ठा और अधिकार सर्वोच्च थे। वह मंत्रियों का चुनाव करता था, और युद्ध तथा शासन-नीति निर्धारित करने में प्रमुख भाग लेता था, प्रजा के सुख, शान्ति और कल्याण के लिए वह अनेक प्रकार के कार्य कर सकता था। परन्तु राजा के सब शासन अधिकार का आधार प्रजा का संतोष और सम्मति थी। राजा को लोकमत का आदर करना होता था, उसकी उपेक्षा करके वह शासन-यंत्र कदापि नहीं चला सकता था। राजा के ऊपर भी शासन और नियंत्रण करनेवाली एक शक्ति थी; वह शक्ति थी, धर्म। और जैसा कि पहले कहा गया है, भारतवर्ष में धर्म के अंतर्गत समाजनीति, अर्थनीति, शासननीति आदि के विविध नियम उपनियमों (कानूनों) का समावेश होता था। इस धर्म में कोई मूल या विशेष परिवर्तन करने, लोकमत की उपेक्षा कर नये-नये कानून बनाने या नये कर निर्धारित करने का राजा को कोई अधिकार नहीं था। धर्म के बाहरी स्वरूप या रीति रस्म आदि में जो परिवर्तन होता था, वह भी समाज के स्वाभाविक विकास के कारण होता था। मूल धर्म सनातन काल से एक ही स्वरूप में चलता रहता था। ब्राह्मण इस धर्म की व्याख्या और प्रचार करते थे। राजा पर इस धर्म की रक्षा का उत्तरदायित्व रहता था। राजा के कर्तव्य और मर्यादा निर्धारित थी। वह उनकी अवहेलना या उल्लंघन नहीं कर सकता था।

उसे प्रजा या नागरिकों की विविध प्रकार की स्वतंत्रता की रक्षा करनी होती थी : अपराधियों के अतिरिक्त, और किसी की स्वतंत्रता अपहरण करने का उसे अधिकार न था।

राजा के स्वेच्छाचार का दमन; निवारक उपाय— राजा को स्वेच्छाचारी न बनाने देने के जो विविध उपाय हिन्दू शास्त्रों ने बताये हैं, उनके मुख्य दो भेद हैं:—निवारक और दंडमूलक। । निवारक उपाय दो प्रकार के होते हैं, आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक उपायों से अभिप्राय ऐसे नैतिक शिक्षण या अनुशासन से है, जिससे मन की वृत्तियाँ स्वभावतः सत्यपथगामिनी होजाती है। हम बता चुके हैं कि आचार्य कौटल्य ने राजपुत्र की शिक्षा के लिये कैसी व्यवस्था की है, तथा राजा की दिनचर्या आदि का कैसा विधान किया है।[1]

बाह्य उपायों में धार्मिक तथा राजनैतिक दोनों प्रकार के उपायों का समावेश है। यद्यपि कौटल्य इस ग्रन्थ में विशेषतया लौकिक विषयों का प्रतिपादन करता है, तथापि वह धार्मिक प्रतिबन्ध का उल्लेख करने से नहीं चूकता। उदाहरणार्थ वह लिखता है कि धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करनेवाले राजा का अपना धर्म स्वर्ग-प्राप्ति का साधन होता है; इसके विपरीत, प्रजा की रक्षा न करने वाले तथा अनुचित कष्ट देनेवाले राजा का कार्य उसे नरक में ले जाता है। तथा, राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को धर्म-मार्ग से भ्रष्ट न होने देवे। अपने-अपने धर्म का पालन करता हुआ राजा यहाँ और परलोक में सुखी होता है। स्वर्ग और परलोक की बातों पर आधुनिक पाठकों का विश्वास न होने से वे उपर्युक्त उद्धरणों को भले ही उपहास की वस्तु समझें, परन्तु इनकी तत्कालीन उपयोगिता असंदिग्ध है, कारण कि उस

[1] इस पुस्तक का पाँचवाँ अध्याय देखिए। [2] कौ० ६।१

समय सर्वसाधारण, जिनमें राज भी सम्मिलित है, इन बातों का श्रद्धा-पूर्वक विचार करते थे।

राजनैतिक प्रतिबन्धों के विषय में यही कहना पर्याप्त है कि राजा को कानून के अधिकार नितान्त परिमित थे, उसे धर्म, व्यवहार, और चरित्र (विविध संस्थाओं के नियम) आदि का ध्यान रखना होता था, तथा राजकीय आज्ञाएँ धर्मानुकूल ही हो सकती थीं।[१]

दंडमूलक उपाय—राजा के स्वेच्छाचार या अत्याचार को दमन करनेवाले दंडमूलक उपायों के तीन भेद किये जा सकते हैं, जुरमाना, राजगद्दी से उतारना और अत्याचारी का हनन। कौटल्य के जुरमाने सम्बन्धी विचार का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अन्य उपायों का भी उसने जहाँ-तहाँ यथेष्ट उल्लेख किया है। वह लिखता है कि दुष्ट प्रकृति, आत्म-सम्पत्ति रहित राजा चतुस्समुद्र पर्यन्त भूमि का अधिपति होता हुआ भी या तो अमात्य आदि प्रकृतियों द्वारा मारा जाता है, अथवा शत्रु के वश में चला जाता है।'[२] 'क्षीण हुए अमात्य आदि प्रकृतिजन लोभ ग्रस्त हो जाते हैं, लोभी होकर राजा की ओर से विरक्त हो जाते हैं, और विरक्त होने पर शत्रु से जा मिलते हैं, अथवा अपने आप ही अपने मालिक का हनन कर डालते हैं।'[३]

'अमात्यों के सरल तथा कुटिल भावों की परीक्षा' शीर्षक प्रकरण में कौटल्य एक जासूस द्वारा कहलाता है कि 'यह राजा अत्यन्त असन्मार्ग में प्रवृत्त हुआ है, इसे सहसा मारकर, इसके स्थान पर किसी दूसरे धार्मिक राजा को गद्दी पर बिठाना चाहिए।'[४] इसी प्रकरण में एक जासूस ने यह भी कहा है की 'यह राजा बड़ा अधार्मिक है, इसके ही वंश में उत्पन्न हुए किसी

[१]कौ० अ० ६।१ [२]कौ० अ० ७।५ [३]कौ० अ० १।११

अन्य श्रेष्ठ, धार्मिक व्यक्ति को, अथवा समीप देश के किसी सामन्त को, या आटविक (जंगल के स्वामी) को, अथवा जिसको हम सब मिलकर निश्चय करलें, उसे इस राजा के स्थान पर नियुक्त करना चाहिए।' उक्त उद्धरणों में अप्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्ष रूप से राजा के स्वेच्छाचार से विरुद्ध आवाज उठायी गयी है। परन्तु कौटल्य इसी से संतुष्ट न होकर ऐतिहासिक आधार पर भी स्वेच्छाचारी अथवा प्रजा का तिरस्कार करनेवाले राजाओं को चेतावनी देता है कि वे सन्मार्ग में प्रवृत्त हों। 'इन्द्रियजय' प्रकरण में काम क्रोध आदि के वशीभूत राजाओं के मारे जाने का उल्लेख करता हुआ आचार्य लिखता है कि 'मद के वश होकर डम्भोद्भव नाम का राजा तथा हैहयदेशीय अर्जुन राजा प्रजाओं का तिरस्कार करने के कारण मारे गये।'[1] निदान कौटल्य राजा को किसी प्रकार स्वेच्छाचारी या अत्याचारी नहीं होने देना चाहता।

धार्मिक सहिष्णुता—कौटल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि यद्यपि उस समय अनेक देवी देवताओं की पूजा प्रचलित थी, और नाना मत सम्प्रदाय आदि थे, तथापि राजा न तो किसी विशेष धर्मवालों से खास रियायत करता था, और न किसी धर्मवालों पर कुछ ज्यादती ही करता था।[2] कोष के अधिक संग्रह के प्रकरण में कौटल्य ने अवश्य ही पाखंडी संस्थाओं की, तथा ऐसे मंदिरों की सम्पत्ति को, जो श्रोत्रियों के काम में न आती हो, राजकोष में दिये जाने के कई उपाय बताये हैं, परन्तु यह बात सभी मतवालों के लिए समान रूप से लागू होती है। साधारण-

---

[1] कौ० अ० १।६

[2] सम्राट् अशोक के समय बौद्धधर्म राजधर्म हुआ, कहा जा सकता है, और इससे इसके प्रचार में सुविधा भी मिली, परन्तु यह भी प्रायः अन्य मतों के प्रति सहिष्णुता रखनेवाला था।

तथा प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार था कि वह चाहे जिस धर्म संघ या संस्था से सम्बन्ध रखे। राज्य की ओर से उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। उसके लिए सब धर्म समान थे। लोगों में परस्पर धार्मिक सहिष्णुता थी, और राज्य की ओर से उन्हें अपने पूजा-पाठ, दान-पुण्य, तीर्थयात्रा आदि करने की पूर्ण स्वाधीनता थी।

सामाजिक स्वतंत्रता—धर्म की भाँति लोगों के सामाजिक रीति-रस्म व व्यवहारों में भी राज्य की ओर से कोई बाधा नहीं पहुँचायी जाती थी। सबको यथेष्ट स्वतंत्रता थी। विचारशील राजा केवल उन बातों में सुधार करने का यत्न करते थे; जिनसे समाज को समष्टि-रूप से हानि पहुँचती थी; ये सुधार भी वे केवल अपनी इच्छा से न कर विद्वान् आचार्यों और लोगों के प्रकृत नेताओं के परामर्शपूर्वक ही करते थे। कौटल्य ने दासों के उद्धार के विविध उपायों की योजना करके समाज से इस प्रथा का प्रायः उन्मूलन ही कर दिया; इसी प्रकार उसने उस समय वानप्रस्थियों पर कुछ बन्धन लगाये तो उसने समाज हित को लक्ष्य में रख कर ही यह कार्य किया; उस समय उनके आचार-विचार ठीक नहीं रहे थे। हाँ, जैसा हमने न्याय और दंड के प्रसंग में कहा है, कौटल्य ने शूद्रों के अपराध करने पर उन के लिये ब्राह्मण आदि की अपेक्षा अधिक दंड की व्यवस्था की है[1] परन्तु अन्य बातों में उनके साथ भी राज्य का व्यवहार समुचित था, वे अपने खान-पान आजीविका आदि के लिए राज्य की ओर से वैसी ही सुविधाएँ प्राप्त करने के अधिकारी थे, जैसी अन्य जातियों के आदमी। यद्यपि कौटल्य की शासनपद्धति में हिन्दू संस्कृति और

---

[1] मालूम होता है, यह बात तत्कालीन संस्कृति में इतनी बद्धमूल हो गयी थी कि उसमें सहसा परिवर्तन नहीं किया जा सकता था।

वर्णाश्रम धर्म की रक्षा का यथेष्ट विचार रखा गया है, परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि अधिकारियों की नियुक्ति में साम्प्रदायिक या सामाजिक भेद-भाव नहीं रखा गया। प्रायः प्रत्येक पद के लिए आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित थीं, किसी खास समाज या जाति का होने के कारण, किसी व्यक्ति का किसी पद की प्राप्ति का का मार्ग अवरुद्ध नहीं था, न किसी वर्ण विशेष के लिए कोई विशेष रियायत थी।

असैनिक शासन--अर्थशास्त्र में सेना और युद्ध के वर्णन के विस्तार को देखकर कुछ पाठकों की यह धारणा होजानी स्वाभाविक है कि कौटल्य के शासन का स्वरूप सैनिक रहा होगा। ऐसी समझ ठीक नहीं है। हम पहले ही कह चुके हैं कि कानून का शासन था, व्यक्तियों के अधिकारों की सुरक्षा थी। यद्यपि कौटल्य ने अठारह महामात्यों में से कई एक सैनिक अधिकारी बताये हैं परन्तु उनका प्रबन्ध आदि में कोई विशेष स्थान नहीं है। प्रान्तीय शासक के लिए भी सेनापति का पद कुछ उपयुक्त नहीं बताया गया। युद्ध के समय सेनापति सेना का संचालन और नियन्त्रण अवश्य करता था, परन्तु उसे मुल्की या असैनिक कानूनों का यथेष्ट पालन करना होता था। विजित क्षेत्र में भी सैनिकों को अपनी मर्यादा से रहना पड़ता था, वे वहाँ के नागरिकों को मनमाना कष्ट नहीं दे सकते थे, वरन् उन्हें उनके नागरिक नियमों का आदर करना होता था।

इस से स्पष्ट है कि कौटलीय शासन सेना के बल पर नहीं किया जाता था; यह बल बहुत अस्थिर, असभ्यतासूचक, और बड़ा खर्चीला होता है। अब हम इस बात का विचार करेंगे कि वास्तव में उस शासन का आधार क्या था।

शासनपद्धित का विशाल तथा प्रबल आधार-कौटल्य की शासनपद्धति कोई ऐसी इमारत नहीं थी जिसका केवल ऊपरी भाग अर्थात् राजा

और अधिकारी वर्ग ही शक्तिशाली हों, और जिसका आधार या नींव नितान्त दुर्बल हो। ऐसी इमारत चिरकाल तक ठहर ही नहीं सकती। कौटल्य ने जिस शासनपद्धति की रचना की थी, वह पर्याप्त सबल आधार पर स्थित थी। पौर जानपद—सर्वसाधारण जनता की प्रतिनिधि संस्थाओं—में बड़ी शक्ति थी; वे अपने अर्थ-नियंत्रण तथा अन्य अधिकारों के उपयोग से राजा तथा अन्य अधिकारियों को मनमानी कार्रवाई करने से रोकती हुई, शासनयंत्र को प्रजा के अनुकूल और हितकर रखती थी। हिन्दू राजतंत्र में जब से इन संस्थाओं का ह्रास हुआ, तभी से वह निर्बल और अवनतिशील होकर क्रमशः नष्ट-प्राय हो गया।

केन्द्रीय करण—यहाँ कौल्टय की शासनपद्धति की एक और विशेषता का उल्लेख करना आवश्यक है; वह है, शासन शक्ति और अधिकारों का केन्द्रीयकरण। प्रत्येक विषय केन्द्रीय था। सेना, आयात-निर्यात, सिक्का, विदेशों से सम्बन्ध, दीवानी फौजदारी कानून आदि कुछ बातें तो केन्द्रीय रहनी आवश्यक ही होती हैं, परन्तु साधारणतया यह माना जाता है कि जिन विषयों में राष्ट्रीय ऐक्य की दृष्टि से केन्द्रीयकरण की आवश्यकता न हो, वे स्थानीय संस्थाओं को सौंप दिये जायँ। परन्तु 'अर्थशास्त्र' की शासनपद्धति में हम देखते हैं कि जुआ, मद्यपान, चुङ्गी, कसाईखाना, चरागाह, मंदिर आदि प्रत्येक विषय का पृथक-पृथक केन्द्रीय विभाग है। विशेष परिस्थिति में और परिमित काल के लिये ऐसी व्यवस्था उपयोगी हो सकती है, परन्तु यह बहुत दिन तक नहीं चल सकती। हो सकता है कि कौटल्य के समय के लिए इसकी उपयोगिता असंदिग्ध रही हो, परन्तु देशकाल के अनुसार इसमें परिवर्तन होना आवश्यक था, इसके अभाव में यह प्रवृत्तिदोष मूलक होनी स्वाभाविक थी। और, यह कहा जा सकता है कि

इसने अन्ततः मगध साम्राज्य के क्षय में सहायता दी। तथापि इससे कौटल्य की नीतिज्ञता की न्यूनता सिद्ध नहीं होती। आचार्य ने जो शासनपद्धति निर्धारित की, वह प्रथमतः अपने समय के शासक के लिए थी। और, यद्यपि उसके बाद आनेवाले राष्ट्र सूत्रधार भी उससे यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं, परन्तु इसका यह आशय तो कदापि नहीं कि उसमें देशकालानुसार, आवश्यकता होने पर भी कुछ परिवर्तन न किया जाय।

राजा और प्रजा; पिता-पुत्र का सम्बन्ध—भारत के प्राचीन आदर्श के अनुसार राजा प्रजा का पिता होता है। कौटल्य ने भी इसी आदर्श का मानते हुए राजा को प्रजा के साथ इस प्रकार व्यवहार करने का आदेश किया है जैसा पिता को पुत्र के साथ करना चाहिए। पिता अपने पुत्र की शिक्षादि का प्रबन्ध करके उसे गुणवान बनाता है, और पीछे उसे अपना मित्र और सम्मतिदाता मानता है; इसी तरह राजा भी प्रजा को गुणवान बनाये और उसमें से अपने मंत्री और कोषाध्यक्ष आदि चुने। जैसे, पिता का कर्तव्य पुत्रों को स्वस्थ, धनवान और सुखसम्पन्न बनाना है, इसी प्रकार राजा को चाहिए कि प्रजा को बलवान, धनी और सुखी बनाते हुए उसकी निरन्तर उन्नति करता रहे। जैसे, सुयोग्य पिता अपने काम क्रोध लोभ मोह आदि का त्याग करके अपने पुत्रों के सम्मुख अच्छा उदाहरण उपस्थित करता है, इसी प्रकार राजा भी इन्द्रिय निग्रह करता हुआ न्याय और धर्म का आचरण करे।

जैसे, पुत्र का कर्तव्य पिता की सेवा करना और उसकी (न्यायानुकूल) आज्ञाओं का पालन करना है, ऐसे ही, प्रजा को भी राजा के प्रति व्यवहार करना चाहिए। हाँ, विषम परिस्थिति में, अपवाद-रूप प्रह्लाद की तरह पुत्र को पिता के प्रतिकूल रह-कर यथायोग्य कर्तव्य पालन करना भी भारतीय संस्कृति में

स्वीकार किया गया है। भारतीय इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है कि असंतुष्ट प्रजा ने राजा का दमन किया। प्रजा की इच्छा के विरुद्ध शासन करने का फल राजा वेणु को सर्वनाश के रूप में भोगना पड़ा था, और उसके पश्चात् महाराज पृथु ने प्रजा के मतानुकूल ही नियम व्यवहार किया था। स्वयं कौटल्य ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, मद, और हर्ष के वशीभूत हुए कई ऐसे राजाओं के वृत्तान्त का संकेत किया है, जो प्रजा द्वारा मारे गये।

आचार्य कौटल्य राजा को प्रजा-हित का ध्यान रखने के सम्बन्ध में अनेक बहुमूल्य उपदेश प्रदान करता है। यदि राजा लोग उन पर अमल करें तो उनकी निरंतर उन्नति हो, और उन्हें कभी दुर्दिन देखने का अवसर न आये। सौ बात की एक बात उसने यह कही है कि 'प्रजा के सुख में ही राजा का सुख, और प्रजाओं के हित में ही राजा का हित है, अपने आपको हितकर लगनेवाली बात राजा के लिए हितकर नहीं, प्रजा को हितकर लगनेवाली बात ही राजा के लिए हितकर है।'[२]

कुटिल राजनीति—अर्थशास्त्र में राजनीति सम्बन्धी कुछ बातें ऐसी भी मिलती हैं, जो विशुद्ध नैतिक दृष्टि से मान्य नहीं होतीं। उदाहरणवत छल कपट आदि द्वारा शत्रु को वश में करना, उसके साथ अपघात् करना (धोखा देकर मारना), विष-प्रयोग आदि द्वारा उसकी गुप्त रूप से हत्या करना, गुप्तचरों आदि द्वारा भेद डालना। पाठक ऐसी बातों को पढ़कर आश्चर्य करते हैं कि हिन्दू संस्कृति के रक्षक और पोषक कौटल्य ने इन्हें अपने ग्रन्थ में कैसे स्थान दे दिया। उन्हें इस बात का बहुत दुःख होता है। पाश्चात्य लेखकों को तो इससे कटु आलोचना के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाती है।

---

[१] कौ० अ० १।६ [१] कौ० अ० १।१६